णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन

लेखक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच. डी.

श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015

सम्पादक :

ब्र. यशपाल जैन

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015

फोन : (0141) 2707458, 2705581

हिन्दी :

प्रथम दो संस्करण	:	10 हजार
(6 अप्रैल, 2001 से अद्यतन)		
तृतीय संस्करण	:	3 हजार
(28 मई, 2009)		
श्रुत पंचमी		

गुजराती :

प्रथम तीन संस्करण	:	13 हजार
(9 अप्रैल 2001 से अद्यतन)		
योग	:	**26 हजार**

मूल्य : **ग्यारह रुपये**

टाइपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स
ए-4, बापूनगर,
जयपुर - 302015

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

कहाँ/क्या

क्रम	नाम	पृष्ठ
1.	णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	1
2.	भक्ति और ध्यान	21
3.	जीवन मरण और सुख-दुःख	36
4.	मैं स्वयं भगवान हूँ	52
5.	अपने में अपनापन	69
6.	अपनी खोज	81
7.	एकता की अपील	98
8.	अयोध्या समस्या पर वार्ता	107

प्रकाशकीय

(तृतीय संस्करण)

सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक प्रवक्ता तत्त्ववेत्ता : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के अत्यधिक उपयोगी एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निबंधों का यह संकलन जैन अध्यात्म एकेडमी इन नार्थ अमेरिका (JAANA) के अनुरोध पर विदेशों में रहनेवाले अध्यात्मप्रेमी भारतीय भाई-बहिनों के लिए विशेष रूप से तैयार किया गया है।

वे इसे 2003 के जुलाई माह के प्रथम सप्ताह में आयोजित जैन एसोसियेशन इन नार्थ अमेरिका (JAANA) के द्विवार्षिक सम्मेलन में वितरित करना चाहते हैं। ध्यान रहे इस सम्मेलन में दश हजार से अधिक भाई-बहिन सम्मिलित होते हैं।

इस प्रकाशन में विविध विषयों से संबंधित विविधप्रकार के आठ निबंधों का समावेश किया गया है; जो इसप्रकार हैं –

1. णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन, 2. भक्ति और ध्यान, 3. जीवन-मरण और सुख-दुःख, 4. मैं स्वयं भगवान हूँ, 5. अपने में अपनापन, 6. अपनी खोज, 7. एकता की अपील, 8. अयोध्या समस्या पर वार्ता।

उक्त निबंधों में जहाँ एक ओर पंचपरमेष्ठी के स्वरूप पर प्रकाश डालनेवाला 'णमोकार महामंत्र' जैसा निबंध है तथा भक्ति और ध्यान की चर्चा है तो दूसरी ओर भगवान आत्मा और उसकी खोज से संबंधित निबंध हैं; इसीप्रकार एक ओर 'जीवन-मरण और सुख-दुःख' जैसे शाश्वत मूल्यों की चर्चा की गई है तो दूसरी ओर उनका सामाजिक और राष्ट्रीय चिन्तन एकता की अपील और अयोध्या वार्ता में प्रस्फुटित हुआ है।

डॉ. भारिल्ल जितने सफल प्रवचनकार हैं, उतने ही सिद्धहस्त लेखक भी हैं। उनके द्वारा लगभग 72 छोटी-बड़ी पुस्तकों का प्रणयन हुआ है, जिनमें से कुछ का तो आठ भाषाओं में अनुवाद हुआ है और सबकुछ मिलाकर 42 लाख की संख्या में छपकर समाज के घर-घर में पहुँच चुकी हैं। प्रस्तुत कृति का अध्ययन कर आप स्वयं उनकी लेखनी से अभिभूत हुए बिना नहीं रहेंगे।

हमारा विश्वास है कि डॉ. भारिल्ल के विचारों की प्रतिनिधि उक्त कृति से पाठकों को उनके सुलझे हुए विचारों को जानने का अवसर तो मिलेगा ही, उनकी आकर्षक लेखन शैली, सरल-सुबोध भाषा एवं प्रभावक व्यक्तित्व का भी परिचय प्राप्त हो सकेगा, जिससे उनके शेष साहित्य के अध्ययन की प्रेरणा भी प्राप्त होगी, उनके प्रवचनों को सुनने की भावना जाग्रत होगी। इसी भावना से पुस्तक के अन्त में उनके प्रकाशनों की सूची भी दी गई है।

नयनाभिराम आवरण व सुन्दर कलेवर में प्रस्तुत करने का श्रेय प्रकाशन विभाग के प्रभारी अखिल बंसल को जाता है। आप सभी णमोकार महामंत्र का हार्द समझकर भव का अभाव करें – इसी भावना के साथ –

– ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.
प्रकाशन मंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

1.	श्रीमती मीना जैन ध.प. कोशलकिशोरजी जैन, भिण्ड	251
2.	श्री आशीषकुमार मनीषकुमारजी जैन, भिण्ड	251
3.	श्री सगुनचन्द विनोदकुमारजी जैन, गोहद	251
4.	श्रीमती सरिता जैन ध.प. संजीवकुमारजी जैन, ग्वालियर	251
5.	श्रीमती शशि जैन, दिल्ली	251
6.	श्री प्रकाशजी जैन, कुचड़ौद	251
7.	श्री भागचन्दजी जैन, गोहद	201
8.	श्री केवलप्रसादजी जैन, गोहद	201
9.	श्री पारसजी सिंघई, गोहद	201
10.	श्री विनयकुमारजी जैन, भिण्ड	201
11.	श्री प्रीतमचन्दजी जैन, गोहद	201
12.	श्री रतनलाल राकेशकुमारजी जैन, गोहद	201
13.	श्री भागचन्द सुनीलकुमारजी जैन, गोहद	201
14.	श्रीमती एकता जैन ध.प. विनयकुमारजी जैन, गोहद	201
15.	श्री बंगालीमलजी जैन, गोहद	201
		कुल योग 3315

१

णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन

णमोकार महामंत्र जैनसमाज का सर्वाधिक श्रद्धेय एवं सर्वमान्य महामंत्र है। जैनियों के सभी सम्प्रदाय इसे मानते हैं और सभी लोग प्रतिदिन इसका जाप करते हैं।

जैनियों में तीन चीजें ऐसी हैं जो जैनियों के सभी सम्प्रदायों को समानरूप स्वीकार हैं। उनमें सर्वप्रथम स्थान तो णमोकार महामंत्र को ही प्राप्त है, दूसरे स्थान पर भक्तामर स्तोत्र है और तीसरे स्थान पर महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र आता है, जिसे मोक्षशास्त्र के नाम से भी जाना जाता है।

यहाँ हमारे विचार का मूल बिन्दु मुख्यरूप से णमोकार महामंत्र ही है। इसे अनादिनिधन महामंत्र भी कहा जाता है; क्योंकि इसमें जिन्हें नमस्कार किया गया है; वे पंच परमेष्ठी अनादि से होते आये हैं और अनन्तकाल तक होते रहेंगे तथा उन्हें नमस्कार करनेवाले भी अनादि से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे भी। भले ही इस महामंत्र को इस रूप में किसी ने भी प्रस्तुत किया हो; किन्तु भाव की दृष्टि से तो यह अनादि-अनन्त ही है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि णमोकार महामंत्र में ऐसी क्या विशेषता है कि जिसके कारण प्रत्येक जैनी प्रतिदिन प्रातःकाल इसे एक सौ आठ बार नहीं तो कम से कम नौ बार तो बोलता ही है।

सम्पूर्ण जैनसमाज में समान रूप से मान्य यह महामंत्र प्रत्येक जैनी को संकटकाल में तो याद आता ही है, प्रत्येक शुभकार्य के आरम्भ में भी इसका स्मरण किया जाता है। प्रत्येक पालक अपने बालकों को दो-तीन वर्ष की अवस्था में ही इस महामंत्र को सिखा देता है। इसप्रकार यह जैन समाज के बच्चे-बच्चे को याद है।

उक्त सन्दर्भ में जब हम इसके अर्थ पर विचार करते हैं तो एक बात अत्यन्त स्पष्टरूप से सामने आती है कि इसमें पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करने के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं कहा गया है।

णमोकार महामंत्र का सीधा-सादा अर्थ इसप्रकार है –

अरहन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक के सर्वसाधुओं को नमस्कार हो।

– ऐसा होने पर भी इसकी इतनी लोकप्रियता क्यों है ?

गम्भीरता से विचार करने पर एक बात अत्यन्त स्पष्टरूप से ज्ञात होती है कि इसमें किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार नहीं किया गया है, अपितु उन सभी महान आत्माओं को स्मरण किया गया है, जिन्होंने निज भगवान आत्मा की आराधना कर पंच परमेष्ठी पद प्राप्त किये हैं, कर रहे हैं और भविष्य में करेंगे।

व्यक्तिविशेष की महिमा से सम्प्रदाय पनपते हैं और गुणों की महिमा से धर्म की वृद्धि होती है।

इसीलिए तो हमारे यहाँ कहा गया है कि –

जिसने राग-द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्षमार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया॥
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो।
भक्ति भाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो॥

जो सर्वज्ञ है, वीतरागी है और हितोपदेशी है; हम तो उनके ही चरणों में सिर नवाते हैं, वह चाहे महावीर हो, चाहे बुद्ध हो, चाहे जिन हो, चाहे हरि हो, चाहे हर हो, चाहे ब्रह्मा हो। चाहे कोई भी हो, पर यदि वे सर्वज्ञ-वीतरागी हैं तो हमारे लिए वन्दनीय हैं, प्रातःस्मरणीय हैं।

मात्र व्यक्तिविशेष की आराधना करने वाला धर्म सार्वकालिक नहीं हो सकता, सार्वभौमिक नहीं हो सकता और सार्वजनिक भी नहीं हो सकता।

व्यक्तिविशेष अनादि-अनन्त नहीं होने से सार्वकालिक नहीं होते, क्षेत्रविशेष से सम्बन्धित होने से सार्वभौमिक नहीं होते और जातिविशेष से सम्बन्धित होने से सार्वजनिक नहीं हो सकते; पर **पंच परमेष्ठी अनादि से होते आए हैं और अनन्तकाल तक होते रहेंगे, अत: सार्वकालिक हैं; ढाई द्वीप में सर्वत्र ही होते हैं, अत: सार्वभौमिक हैं और जाति विशेष से सम्बन्धित न होने से सार्वजनिक भी हैं।**

पंच परमेष्ठी का आराधक होने के कारण ही जैनदर्शन सार्वकालिक, सार्वभौमिक एवं सार्वजनिक है।

जैनदर्शन के अनुसार निज भगवान आत्मा की साधना करनेवाले ही साधु कहलाते हैं और साधुओं में ही जो वरिष्ठ होते हैं, उन्हें आचार्य और उपाध्याय पद प्राप्त होते हैं। आत्मा की साधना से पूर्णता को प्राप्त पुरुष ही अरिहन्त और सिद्ध बनते हैं।

इसप्रकार आत्मसाधक और अरिहन्त व सिद्ध ही पंच परमेष्ठी हैं, जिन्हें इस णमोकार महामंत्र में नमस्कार किया गया है।

इस णमोकार महामंत्र की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें किसी से कुछ मांग नहीं की गई है, इसमें भिखारीपन नहीं है; पूर्णत: नि:स्वार्थभाव से पंच परमेष्ठी के प्रति भक्तिभाव प्रकट किया गया है, उसके बदले में कुछ भी चाहा नहीं गया है।

जगत के अन्य जितने भी मंत्र हैं, उन सभी में कुछ न कुछ मांग अवश्य की जाती रही है। और कुछ नहीं तो यही कहा जायेगा कि **सर्व शान्तिं कुरु-कुरु स्वाहा।**

यद्यपि इसमें भी व्यक्तिगत रूप से कुछ भी नहीं चाहा गया है, सबके लिए पूर्ण शान्ति की कामना की गई है, जो बहुत अच्छी बात है; क्योंकि जो कुछ चाहा गया है, वह सबके लिए चाहा गया है, सबके हित के लिए चाहा गया है; विषय-कषाय की पूर्ति की कामना नहीं की गई है, शान्ति की ही कामना की गई है; तथापि चाहा तो गया ही है, मांग तो की ही गई है।

यह तो आप जानते ही हैं कि भारतीय संस्कृति में मांगने को सर्वाधिक बुरा बताया गया है। कहा भी गया है कि –

रहिमन वे नर मर गये जो नर मांगन जाँय।
उनसे पहले वे मरे जिन-मुख निकसत नाँहि॥

उक्त छन्द में मांगनेवालों को मरे हुए के समान बताया गया है। कहा गया है कि जो किसी के दरवाजे पर मांगने जाते हैं, समझ लो वे लोग मर ही गए हैं; क्योंकि मांगना स्वाभिमान खोये बिना सम्भव नहीं है और जिनका स्वाभिमान समाप्त हो गया है, वे जिन्दा होकर भी मृतक समान ही हैं।

इसमें एक बात और भी कही गई है कि मांगनेवाले तो मृतक समान हैं ही, पर मांगने पर मना करनेवाले तो उनसे भी गये बीते हैं। उन्हें तो मांगनेवालों से भी पहले मर गया समझो।

मांगने पर तो विष्णु भगवान को भी बाबनिया बनना पड़ा था, फिर औरों की तो बात ही क्या है ? ऐसी भारतीय संस्कृति में कि जिसमें मांगने को इतना हीन समझा गया हो; उसमें, जिसमें कुछ मांग प्रस्तुत न की गई हो, वह मंत्र महामंत्र बन गया तो आश्चर्य की क्या बात है ?

कुछ लोग कहते हैं कि णमोकार महामंत्र में बड़ी ही उदारता से लोक के सभी साधुओं को नमस्कार किया गया है। उदारता की व्याख्या करते हुए वे यह कहने से भी नहीं चूकते हैं कि जैन साधु और जैनेतर साधुओं को इसमें बिना भेदभाव किए समानरूप से नमस्कार किया गया है।

क्या **'णमो लोए सव्वसाहूणं'** का सचमुच यही भाव है? या फिर जैनेतरों को प्रसन्न करने के लिए यह कह दिया जाता है ?

यद्यपि यह बात सत्य है कि इसमें किसी साधु विशेष का नाम लेकर नमस्कार नहीं किया गया है, किसी सम्प्रदाय विशेष का भी नाम नहीं लिया गया है, किसी धर्म का भी नाम नहीं लिया गया है; तथापि इसमें वे साधुगण ही आते हैं, जो पंच परमेष्ठी में शामिल हैं, अट्ठाईस मूलगुणों के धारी हैं; जो जैन परिभाषा के अनुसार छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में झूलनेवाले हैं

या उससे भी ऊपर हैं। अत: यह सुनिश्चित है कि **'णमो लोए सव्वसाहूणं' में वीतरागी भावलिंगी जैन सन्त ही आते हैं; क्योंकि जैन परिभाषा के अनुसार वे ही लोक के सर्वसाधु हैं, अन्य नहीं।**

सामान्यरूप से पंचपरमेष्ठी का स्मरण करना, नमस्कार करना प्रत्येक जैन का प्राथमिक कर्तव्य है; जिसे प्रत्येक जैन प्रतिदिन णमोकार महामंत्र के जाप के माध्यम से निभाता ही है और निभाना भी चाहिए।

जिनसे हमारा उपकार न हुआ हो, जिनसे हमारा साक्षात् परिचय भी न हो; पर जो भी परमपद में स्थित हैं, पंचपरमेष्ठी में आते हैं; वे सभी हमारे लिए समानरूप से पूज्य हैं, उनमें भेदभाव करना उचित नहीं है। उन सभी को समानरूप से स्मरण करना ही 'णमो लोए सव्वसाहूणं' पद का मूल प्रयोजन है।

हमारे प्रत्यक्ष उपकारी तो वे ज्ञानी गृहस्थ धर्मात्मा भी हो सकते हैं, जो अभी पंचपरमेष्ठी में शामिल नहीं हैं। वे भी पूज्य तो हैं ही, पर पंचपरमेष्ठी के समान पूज्य नहीं। अष्टद्रव्य से पूज्य तो पंचपरमेष्ठी ही हैं। उन्हीं को णमोकार महामंत्र में स्थान प्राप्त है, ज्ञानी गृहस्थ धर्मात्माओं को नहीं।

इस सन्दर्भ में एक बात और भी उल्लेखनीय है कि णमोकार महामंत्र की महिमा बतानेवाली गाथा में णमोकार मंत्र को सब पापों का नाश करनेवाला कहा गया है।

वह गाथा मूलत: इसप्रकार है –

एसो पंच णमोयारो सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होहि मंगलम्॥

यह नमस्कार महामंत्र सब पापों का नाश करनेवाला और सब मंगलों में पहला मंगल है।

इस गाथा के अर्थ समझने में भी भारी भूल होती है। सब पापों का नाश करने का अर्थ यह समझा जाता है कि भूतकाल में हमने जो भी पाप किए हैं, इस महामंत्र के उच्चारण मात्र से उन सबका नाश बिना फल दिए ही हो

जाता है।

यदि ऐसा है तो फिर हम सभी लोग प्रतिदिन इसे बोलते ही हैं; अत: हमारे पुराने सभी पापों का नाश हो जाना चाहिए था, पर ऐसा तो दिखाई नहीं देता है; क्योंकि प्रतिदिन णमोकार महामंत्र बोलनेवालों के भी पाप का उदय देखा जाता है, पाप के उदय में उन्हें अनेक प्रतिकूलताओं का सामना भी करना पड़ता है। यह सब हम प्रतिदिन देखते हैं, प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

इससे बचने के लिए यदि यह कहा जाए कि हमें इस पर पक्का भरोसा नहीं है, विश्वास नहीं है; अत: हमारे पापों का नाश नहीं होता है।

अरे भाई, न सही हमें विश्वास, पर क्या किसी को भी विश्वास नहीं है? लाखों लोग प्रतिदिन णमोकार महामंत्र बोलते हैं और लगभग सभी के थोड़ा-बहुत पाप का उदय देखने में आता ही है। पाप के उदय में प्रतिकूलताएँ भोगते हम सभी को सदा देखते ही हैं।

जाने दो णमोकार महामंत्र बोलनेवालों को, पर णमोकार महामंत्र में जिन्हें नमस्कार किया गया है; उन्हें भी तो पापोदय देखने में आता है। हमारे वीतरागी सन्तों पर जो उपसर्ग होते हैं, वे सभी पापोदय के ही तो परिणाम हैं। जब उनके ही पापों का नाश नहीं हुआ तो उनका नाम लेने से हमारे पापों का नाश कैसे होगा ?

यह एक ऐसा प्रश्न है जो प्रत्येक विचारक के हृदय को आन्दोलित करता है। इस पर गम्भीरता से विचार करते हैं तो यही प्रतीत होता है कि जो व्यक्ति जिस समय इस महामंत्र का भावपूर्वक, समझपूर्वक स्मरण करता है, उसके हृदय में उस समय कोई पापभाव उत्पन्न ही नहीं होता, यही सब पापों का नाश होना है अथवा शुभभाव के काल में पूर्वबद्ध कर्मों के होनेवाले संक्रमणादि को भी लिया जा सकता है।

प्रश्न :– यदि 'उस समय पापभाव उत्पन्न नहीं होते' मात्र इतना ही आशय है तो फिर सब पापों के नाश की बात क्यों कही गई है ?

उत्तर :– पाप अनेक प्रकार के हैं; हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। ये सभी पापभाव णमोकार मंत्र के स्मरण के काल में उत्पन्न नहीं होते – इसकारण ही 'सब' शब्द का प्रयोग है। यहाँ 'सब' शब्द का अर्थ वर्तमान में उत्पन्न होनेवाले हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के परिणाम ही हैं। इसमें भूतकाल में किए गए पापों से कोई तात्पर्य नहीं है। यदि भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी द्रव्य-पाप एवं भाव-पाप णमोकार मंत्र के बोलने मात्र से नष्ट हो जाते होते तो फिर आत्मध्यानरूप तप की क्या आवश्यकता थी, उपशम श्रेणी-क्षपकश्रेणी मांडने की क्या आवश्यकता थी ? सभी कर्मों का नाश णमोकार मंत्र के बोलने से ही हो जाता।

इसीप्रकार यदि णमोकार मंत्र बोलने मात्र से सभी पाप नाश को प्राप्त हो जाते होते तो फिर कोई पाप करने से डरता ही क्यों ? दिनभर जी-भरकर पाप करो और सायं को णमोकार मंत्र बोल लो, सब पापों का नाश हो ही जाएगा। इसप्रकार तो यह महामंत्र पापियों को अभयदान देनेवाला हो जाएगा।

अत: यही सही है कि जिस समय हम णमोकार मंत्र बोलते हैं, उस समय कोई पापभाव हमारे मन में भी उत्पन्न नहीं होता। यह बात अनुभवसिद्ध भी है; क्योंकि जब-जब भी हमारा मन पंचपरमेष्ठी के स्मरण-चिन्तन में रहता है, तबतक कोई पापभाव मन में नहीं आता, परिणाम निर्मल ही रहते हैं।

इस पर यदि कोई कहे कि णमोकार महामंत्र के स्मरण से भूतकाल के पापों का नाश नहीं होता तो णमोकार मंत्र बोलने से लाभ ही क्या है ? क्या अकेले वर्तमान पापभावों से बचने के लिए ही इसका जाप करें ? क्या इस महामंत्र का इतना ही माहात्म्य है ? इस भाव तो हमें यह नहीं पुसाता।

अरे भाई, यह बात तो ऐसी ही हुई कि जैसे किसी सेठ ने सायं ६ बजे से प्रात: ६ बजे तक के लिए रात की चौकीदारी पर एक चौकीदार को रखा, पर उसके यहाँ दिन के १२ बजे चोरी हो गई तो कहने लगा कि चौकीदार रखने से क्या लाभ है ? हटाओ इस चौकीदार को।

पर भाई, क्या यह सोचना सही है ? अरे रात का चौकीदार रखा है तो रात को चोरी नहीं हुई, भले ही दिन को हो गई। इससे अच्छी चौकीदारी और क्या हो सकती है कि चौकीदार के कारण चोर रात को तो चोरी न कर सका, पर दिन को चोरी करने में सफल हो गया। इससे तो चौकीदार की उपयोगिता ही सिद्ध हुई है। यदि आप चाहते हैं कि भविष्य में दिन को भी चोरी न हो तो एक चौकीदार दिन को भी रखो।

इसीप्रकार जब यह सिद्ध हो गया कि जिस समय णमोकार महामंत्र का स्मरण होता रहा, उस समय पापबंध नहीं हुआ; तब **यदि हम चाहते हैं कि हमें कभी भी पापबंध न हो तो हमें सदा ही पंचपरमेष्ठी का स्मरण रखना चाहिए।** यही सद्विवेक है, सच्ची समझ है।

जिस कार्य का जितना फल है, उससे अधिक मान लेने से तो कुछ कार्य सिद्ध होनेवाला नहीं है।

यद्यपि णमोकार महामंत्र में कुछ मांगा नहीं गया है; तथापि हम उसके स्मरण से सभी पापभावों से बच जाते हैं। यह सब पंचपरमेष्ठी के स्मरण का ही प्रताप है।

आचार्य कुन्दकुन्द के मोक्षपाहुड़ में भी इसी भाव की पोषक गाथाएँ प्राप्त होती हैं; जो इसप्रकार हैं –

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं॥
सम्मतं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं॥

इनका हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार है :–

अरहंत सिद्धाचार्य पाठक साधु हैं परमेष्ठि पण।
सब आतमा की अवस्थाएँ आतमा ही है शरण॥
सम्यक् सुदर्शन ज्ञान तप समभाव सम्यक् आचरण।
सब आतमा की अवस्थाएँ आतमा ही है शरण॥

कुन्दकुन्दशतक में संकलित ये दूसरी व तीसरी गाथाएँ आचार्य कुन्दकुन्द के अष्टपोहुड़ के मोक्षपाहुड़ की १०४ वीं एवं १०५वीं गाथाएँ हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द की ये गाथाएँ अपने आप में महामंत्र हैं। इनमें सरल-सुबोध भाषा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही गई है। उक्त गाथाओं की पहली ही पंक्ति में पंचपरमेष्ठी का स्मरण किया गया है। हमारे सर्वाधिक प्रिय महामंत्र णमोकार मंत्र में भी पंचपरमेष्ठी को ही नमस्कार किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द की उक्त गाथाओं में भी णमोकार मंत्र के समान बिना किसी मांग के पंचपरमेष्ठी का स्मरण किया गया है। इसलिए मैं कहता हूँ कि यह गाथा आचार्य कुंदकुंद का णमोकार महामंत्र है।

आचार्य कुन्दकुन्द जिन-अध्यात्म परम्परा के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। उनके ग्रन्थों में जिन-अध्यात्म का अत्यन्त विशुद्ध प्रतिपादन है। उनकी लौहलेखनी से प्रसूत अन्तस्तत्त्व के तलस्पर्शी प्रतिपादक समयसारादि ग्रन्थराज जिन-अध्यात्म के क्षेत्र में विगत दो हजार वर्षों से प्रकाशस्तम्भ का कार्य कर रहे हैं।

यद्यपि णमोकार महामंत्र में कुछ मांगा नहीं गया है, पर उसके बाद आने वाली पंक्तियों में अरहन्तादिक की शरण में जाने की बात अवश्य कही गई है। कहा गया है –

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरहंते सरणं पव्वज्जामि,
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि,
केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

उक्त पंक्तियों में अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलीभगवान द्वारा कहे गये धर्म की शरण में जाने की बात कही गई है।

यहाँ शरण में जाने की बात के माध्यम से शरण की मांग तो कर ही ली है, पर आचार्य कुंदकुंद ने तो निजभगवान आत्मा की शरण में जाने की ही बात की है। ''तम्हा आदा हु मे सरणम्'' कहकर वे निज आत्मा की शरण में जाने की ही बात करते हैं।

यदि पंचपरमेष्ठी से कुछ मांग न करने के कारण ही णमोकार महामंत्र महान है तो फिर आचार्य कुन्दकुन्द की उक्त गाथा निश्चित रूप से उससे भी अधिक महान है; क्योंकि कुन्दकुन्द तो पर की शरण में जाने की बात ही नहीं करते। वे तो अपने आत्मा की शरण में जाने की बात करते हैं।

इस गाथा में वे आत्मा की शरण में जाने की बात को सयुक्ति सिद्ध करते हैं। इस बात की चर्चा करने के पूर्व में णमोकार मंत्र के बाद आनेवाले मंगल, उत्तम और शरण बतानेवाले पाठ के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ।

णमोकार महामंत्र में तो पांचों ही परमेष्ठियों का स्मरण किया गया है; पर मंगल, उत्तम और शरण बताते समय आचार्य और उपाध्याय को छोड़ दिया है। क्या आप जानते हैं कि ऐसा क्यों किया गया है ?

मुक्ति प्राप्त करने के लिए साधु होना अनिवार्य है, अरहन्त होना अनिवार्य है, सिद्ध होना भी अनिवार्य है; क्योंकि सिद्ध होना ही तो मुक्ति प्राप्त करना है, पर **मुक्त होने के लिए आचार्य और उपाध्याय होना अनिवार्य नहीं है। यही कारण है कि मंगल, उत्तम और शरण की चर्चा में उन्हें शामिल नहीं किया गया है।**

न केवल इतनी ही बात है कि मुक्ति के लिए आचार्यपद आवश्यक नहीं है, अपितु बात तो यहाँ तक है कि आचार्य जबतक आचार्यपद पर हैं, तबतक उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। उनके अनेक साधु शिष्यों को केवलज्ञान हो जाता है, पर उन्हें नहीं होता। **जब वे आचार्यपद छोड़कर सामान्य साधुपद धारण करते हैं और आत्मसन्मुख होते हैं, तभी केवलज्ञान होता है।**

यद्यपि यह सत्य है कि आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठियों को सर्वसाधुओं में शामिल कर लिया गया है, उन्हें छोड़ा नहीं गया है; तथापि उन्हें गौण तो किया ही गया है और गौण करने का एकमात्र कारण मुक्ति प्राप्त करने में उक्त

पदों की कोई उपयोगिता नहीं होना ही है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि साधुओं में आचार्य और उपाध्यायों को शामिल करने के स्थान पर आचार्यों में साधुओं को शामिल करना चाहिए; क्योंकि आचार्य बड़े हैं, साधुओं के भी गुरु हैं, उनके भी पूज्य हैं। अत: आचार्यों के नाम का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए था और साधुओं को उसमें शामिल कर लेना चाहिए था।

अरे भाई, यहाँ छोटे-बड़े का सवाल नहीं है। बात यह है कि आचार्य परमेष्ठी साधु परमेष्ठी भी हैं ही, पर साधु परमेष्ठी आचार्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि आचार्य परमेष्ठी अपने ३६ मूलगुण के धारी तो होते ही हैं तथा साधुओं के २८ मूलगुण भी उनके होते ही हैं; किन्तु साधु मात्र २८ मूलगुणों के ही धारी होते हैं, उनके आचार्यों के ३६ मूलगुण नहीं होते।

बात यह है कि आचार्य साधु और आचार्य – दोनों एक साथ हैं, पर साधु मात्र साधु ही है; अत: उनका समावेश आचार्य पद में सम्भव नहीं है।

यदि कोई कहे कि एक ओर तो आप कहते हैं कि आचार्य और उपाध्यायों को मंगल, उत्तम और शरण में शामिल नहीं किया गया है; क्योंकि ये पद मुक्तिमार्ग में आवश्यक नहीं हैं, साधक नहीं हैं; अपितु बाधक हैं और दूसरी ओर कहते हैं कि उन्हें साधु पद में शामिल कर लिया गया है। क्या ये परस्पर विरोधी बातें नहीं हैं ?

नहीं; क्योंकि ये तो विभिन्न अपेक्षाओं का दिग्दर्शन हैं, इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। दूसरी बात यह भी तो है कि जो आचार्यों को साधु पद में शामिल किया गया, वह उनके साधु पद के कारण ही किया गया है, आचार्यपद के कारण नहीं।

अत: मुख्य बात तो यही है कि मुक्ति के मार्ग में अनावश्यक होने से आचार्य और उपाध्याय पद को गौण किया गया है।

गजब की बात तो यह है कि आचार्यों और उपाध्यायों से दीक्षादि ली जाती है, उपदेश की प्राप्ति होती है, फिर भी उनकी शरण में जाने को तो गौण

किया है और जिन सिद्ध व साधुपरमेष्ठी से कोई प्रत्यक्ष उपकार सम्भव नहीं होता, उनकी शरण चाही गई है।

इससे भी यही प्रतीत होता है कि इसमें मोक्ष और मोक्षमार्ग के प्रति अति बहुमान व्यक्त करना ही मूल उद्देश्य है, शरण में जाने का अर्थ इससे अधिक कुछ नहीं।

मुक्ति और मुक्तिमार्ग में अरहन्त, सिद्ध और साधु पद तो आते हैं, पर आचार्य और उपाध्याय पद आना अनिवार्य नहीं है। आचार्य पद तो प्रशासन का पद है और उपाध्याय पद अध्यापन का पद है; दोनों में ही माथे पर भार रहता है। जबतक माथे पर भार रहेगा, तबतक क्षपकश्रेणी माँड़ना संभव नहीं है, क्षपकश्रेणी निर्भार व्यक्तियों को ही होती है।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन से सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि णमोकार महामंत्र में जो शरण की बात कही गई है, वह भी कुछ मांग नहीं है; अपितु बहुमान की बात ही है; तथापि पर की शरण की बात कही तो गई है न, पर आचार्य कुंदकुंद तो पर की शरण में जाने की बात ही नहीं करते।

वे तो साफ-साफ कहते हैं –

अरहंत सिद्धाचार्य पाठक, साधु हैं परमेष्ठी पण।
सब आतमा की अवस्थाएँ, आतमा ही है शरण॥

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु – ये सब हैं क्या ? आखिर एक आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं न? एक निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न हुई अवस्थाएँ हैं न ? तो फिर हम इनकी शरण में क्यों जावें, हम तो उस भगवान-आत्मा की ही शरण में जाते हैं, जिसकी ये अवस्थाएँ हैं, जिसके आश्रय से ये अवस्थाएँ उत्पन्न हुई हैं। सर्वाधिक महान, सर्वाधिक उपयोगी, ध्यान का ध्येय, श्रद्धान का श्रद्धेय एवं परमशुद्धनिश्चयनयरूप ज्ञान का ज्ञेय तो निज भगवान आत्मा ही है, उसकी शरण में जाने से ही मुक्ति के मार्ग का आरम्भ होता है, मुक्तिमार्ग में गमन होता है और मुक्तिमहल में पहुँचना सम्भव होता है।

सिद्ध भगवान तो मुक्त ही हैं तथा अरहन्त, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु मुक्तिमार्ग के पथिक हैं तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र – इन तीनों की एकता मुक्तिमार्ग है। **मुक्तिदशा, मुक्तिमार्ग के पथिकरूप साधकदशा तथा मुक्तिमार्ग रूप साधनदशा सभी आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं। ये सभी अवस्थाएँ निजभगवान आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न होती हैं। इसलिए निजभगवान आत्मा की शरण में जाना ही सुखी होने का एकमात्र उपाय है।**

पंचपरमेष्ठी हमारे लिए परमपूज्य हैं, प्रात: स्मरणीय हैं, वन्दनीय हैं, अभिनन्दनीय हैं और सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र साक्षात् मुक्ति का मार्ग हैं। हमें परमेष्ठी पद में स्थित होना है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय की आराधना ही पंच-परमेष्ठी पद में स्थित होना है। इसप्रकार हमारे जीवन में पंचपरमेष्ठी एवं रत्नत्रय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पर ये पंचपरमेष्ठी पद और रत्नत्रय धर्म सभी आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं। इन्हें प्राप्त करने के लिए निज भगवान आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान आवश्यक है। अत: यहाँ आत्मा की ही शरण में जाने की बात कही गई है।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि शरण में जाने की बात तो दो द्रव्यों के बीच में ही सम्भव है, स्वयं का स्वयं की शरण में जाना किसप्रकार सम्भव है ?

अरे भाई ! **निज भगवान आत्मा को जानना, पहिचानना और उसमें जमना-रमना ही आत्मा की शरण में जाना है।** त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा को जानना और यह जानना कि 'यही मैं हूँ' निज भगवान आत्मा की सम्यग्ज्ञानरूप उपासना है, निज भगवान आत्मा की शरण में जाना है; तथा उसी त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करना, 'ये ही मैं हूँ' – ऐसी दृढ़ प्रतीति करना ही आत्मा की सम्यग्दर्शनरूप उपासना है, निज भगवान आत्मा की शरण में जाना है; त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा में लीन हो जाना, रम जाना, जम जाना, समा जाना, उसी का ध्यान करना, निज भगवान आत्मा की सम्यक्चारित्र रूप उपासना है, निज भगवान आत्मा की शरण में जाना है।

इसी बात को समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में समागत १५वें कलश में इसप्रकार कहा है –

(अनुष्टुप्)

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्॥

(हरिगीत)

है कामना यदि सिद्धि की ना चित्त को भरमाइये।
यह ज्ञान का घन पिण्ड चिन्मय आतमा अपनाइये॥
बस साध्य-साधक भाव से इस एक को ही ध्याइये।
अर आप भी पर्याय में परमातमा बन जाइये॥

स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों के लिए साध्य-साधक भाव के भेद से – दो प्रकार से, इस ज्ञान के घनपिण्ड एक भगवान आत्मा की ही नित्य उपासना करने योग्य है।

यहाँ आचार्य महाराज उपदेश दे रहे हैं, आदेश दे रहे हैं कि हे आत्मार्थी पुरुषो ! आत्मा का कल्याण चाहनेवाले सत्पुरुषो !! तुम निरन्तर ज्ञान के घनपिण्ड आनन्द के रसकन्द इस भगवान आत्मा की ही उपासना करो, आराधना करो; चाहे साध्यभाव से करो, चाहे साधकभाव से करो, पर एक निज भगवान आत्मा की ही उपासना करो। उपासना करने योग्य तो एकमात्र यह ज्ञान का घनपिण्ड और आनन्द का रसकन्द एक भगवान आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं।

यहाँ आत्मा की उपासना करने का तात्पर्य निज आत्मा की पूजा-भक्ति करने से नहीं है, स्तुति-वन्दना करने से भी नहीं है, नमस्कारादि करने से भी नहीं है; अपितु उसे सही रूप में जानने से है, पहिचानने से है, उसका अनुभव करने से है, उसी में समा जाने से है; उसी का नित्य ध्यान करने से है, ध्यान रखने से है; उसको ही सर्वस्व मानने से है; उसी में पूर्णतः समर्पित हो जाने से है। यही निज भगवान आत्मा की उपासना

की विधि है, आराधना की विधि है, साधना की विधि है।

निज भगवान आत्मा की यह उपासना दो प्रकार से होती है –

(१) साध्यभाव से और (२) साधकभाव से।

चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक साधकदशा है और सिद्ध अवस्था साध्यदशा है। अथवा चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक साधकदशा है और अरहन्त और सिद्ध दशा साध्यदशा है। **पर्याय में पूर्णता की प्राप्ति हो जाना साध्यदशा है और आत्मोपलब्धि होकर पूर्णता की ओर अग्रसर होना साधकदशा है। अथवा आत्मा में उपयोग का केन्द्रित होना और फिर बाहर आ जाना – इसप्रकार बार-बार अन्दर जाना और बाहर आना साधकदशा है और उपयोग का निरन्तर आत्मोन्मुख ही रहना, बाहर आना ही नहीं साध्यदशा है। शुभोपयोग और शुद्धोपयोग में झूलना साधकदशा है और शुद्धोपयोग में अनन्तकाल तक के लिए समा जाना साध्यदशा है।**

आत्मा की सिद्धदशा अमल भी है और अचल भी है; परन्तु अरहन्त अवस्था अमल तो है, पर अचल नहीं; क्योंकि उसमें योग के निमित्त से आत्मप्रदेशों में चंचलता पाई जाती है, चलाचलपना पाया जाता है। इस दृष्टि से विचार करें तो **अकेली सिद्धदशा ही साध्यभाव है,आत्म ज्ञानी की शेष सभी दशाएँ साधकभाव में आती हैं।**

पूर्ण वीतरागी व सर्वज्ञ हो जाने से, अमलता प्राप्त हो जाने से तथा उपयोग के निरन्तर आत्मसन्मुख ही रहने से, निरन्तर शुद्धोपयोगी होने से जब अरहन्त भगवान को भी साध्यदशा में ले लेते हैं तो फिर उसके पहले के धर्मात्मा जीव साधकदशावाले कहे जाते हैं।

उपयोग का आत्मसन्मुख होना ही आत्मा की सच्ची उपासना है। जब वह उपयोग निरन्तर आत्मसन्मुख होता है तो उस उपासना को साध्यभाव की उपासना कहते हैं और जब वह कभी-कभी आत्मसम्मुख होता है तो उसे साधकभाव की उपासना कहते हैं।

पर एक बात तो निश्चित ही है कि आत्मा की उपासना तो आत्मसन्मुख होने में ही है, आत्मज्ञान में ही है, आत्मध्यान में ही है, अपने में अपनापन स्थापित करने में ही है। इन्हीं का नाम निश्चयरत्नत्रय है –निश्चय-सम्यग्दर्शन, निश्चय-सम्यग्ज्ञान और निश्चय-सम्यक्चारित्र है।

तात्पर्य यह है कि निश्चयसम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति ही निज भगवान आत्मा की उपासना है, निज भगवान आत्मा की आराधना है, निज भगवान आत्मा की साधना है, निज भगवान आत्मा की शरण में जाना है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि **निरन्तर आत्म ध्यान की दशा ही साध्यभाव की उपासना है और कभी-कभी आत्मध्यान की दशा का होना, साधकभाव की उपासना है।**

आत्मा के कल्याण के इच्छुक पुरुषों को, चाहे वे साध्यभाव से उपासना करें या साधकभाव से उपासना करें, पर उपासना तो नित्य निज भगवान आत्मा की ही करना चाहिए।

यह निज भगवान आत्मा की उपासना ही आत्मा की शरण में जाना है। उक्त गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी की भावना भायी है।

उक्त गाथाएँ मोक्षपाहुड़ की १०४ एवं १०५वीं गाथाएँ हैं और उसके ठीक पहले १०३वीं गाथा में आचार्य कहते हैं –

णविएहिं जं णविज्जई झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं।
थुत्वंतेहिं थुणिज्जई देहत्थं किं पि तं मुणह॥

हे भव्यजीवो ! जिनको सारी दुनिया नमस्कार करती है, वे भी जिनको नमस्कार करें; जिनकी सारी दुनिया स्तुति करती है, वे भी जिनकी स्तुति करें एवं जिनका सारी दुनिया ध्यान करती है, वे भी जिनका ध्यान करें; – ऐसे इस देहदेवल में विराजमान भगवान आत्मा को जानो।''

वन्दनीय पुरुषों द्वारा भी वन्दनीय, स्तुति योग्य पुरुषों द्वारा भी स्तुत्य एवं जगत के द्वारा ध्येय पुरुषों का भी ध्येय यह भगवान आत्मा ही शरण में जाने योग्य है – यह जानकर ही आत्मा की शरण में जाने की बात कही गई है।

पंचपरमेष्ठी भगवन्तों ने भी जिसकी शरण ग्रहण की है; उस भगवान आत्मा को ही जानने की प्रेरणा दी गई है इस गाथा में। उसे ही जानने-पहिचानने का आदेश दिया है आचार्य भगवन्त ने और उसी में जम जाने, रम जाने का उपदेश आता है तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि में।

यह बात द्वादशांगरूप दिव्यध्वनि का सार है, यही बात लाख बात की बात है, और यही कोटि ग्रन्थों का सार है।

जैसाकि निम्नांकित पंक्तियों में कहा गया है –

लाख बात की बात यहै निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग दन्द-फन्द निज आतम ध्याओ॥[१]
कोटि ग्रंथ को सार यही है ये ही जिनवाणी उचरो है।
दौल ध्याय अपने आतम को मुक्ति रमा तोय वैग वरै है॥[२]

उक्त पंक्तियों में अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि अधिक बात करने से क्या लाभ है, लाख बात की बात तो यह है कि जगत के दन्द-फन्द प्रपंचों को छोड़कर एक निज भगवान आत्मा का ही ध्यान धरो।

उक्त पंक्ति में प्रकारान्तर से यह भी कह दिया गया है कि एक आत्मा के ध्यान के अतिरिक्त जो भी है, वह सभी दन्द-फन्द ही है।

करोड़ ग्रंथों का सार भी यही है और सम्पूर्ण जिनवाणी में भी यही आया है, सम्पूर्ण जिनागम में भी यही कहा गया है कि अपने आत्मा का ध्यान धरो। यदि तुम ऐसा कर सके तो मुक्तिरूपी कन्या अतिशीघ्र ही तुम्हारा वरण करेगी, तुम्हारे गले में वरमाला डाल देगी।

मुक्तिरूपी कन्या प्राप्त करने के लिए तुम्हें मुक्तिरूपी कन्या का ध्यान धरने की आवश्यकता नहीं है, तुम तो स्वयं का ध्यान धरो। निज भगवान आत्मा को ही ज्ञान का ज्ञेय बनाओ, ध्यान का ध्येय बनाओ; मुक्तिरूपी कन्या स्वयं उपस्थित होकर तुम्हारा वरण करेगी, तुम्हारे गले में वरमाला डालेगी।

---

१. पंडित दौलतराम : छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ९
२. पंडित दौलतराम : भजन की पंक्ति

मुक्तिरूपी कन्या उनका वरण नहीं करती है, जो उसका ध्यान धरते हैं; किन्तु उनका ही वरण करती है, जो निज भगवान आत्मा का ध्यान धरते हैं। वह आत्मा पर रींझनेवालों पर ही रींझती है।

तात्पर्य यह है कि मुक्ति, मुक्ति का ध्यान धरनेवालों को प्राप्त नहीं होती, त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा का ध्यान धरनेवालों को ही प्राप्त होती है। इसीलिए इन गाथाओं में निज भगवान आत्मा की शरण में जाने की बात कही गई है।

एक युवक जीवनसाथी बनाने के लिए एक युवती को देखने गया। दोनों ही अत्यन्त सुन्दर और सब प्रकार से सुयोग्य थे। एक-दूसरे को देखकर दोनों ही एक-दूसरे पर मोहित हो गये। यद्यपि दोनों ने ही एक-दूसरे को पसन्द कर लिया था, पर कुछ देर तक कोई कुछ नहीं बोला।

भारतीय युवतियाँ तो सहज संकोची होती ही हैं। अत: पहले लड़की के बोलने का तो कोई सवाल ही नहीं था, पर युवक भी उसकी सुन्दरता देखकर स्तब्ध-सा रह गया। वह उस युवती पर आवश्यकता से अधिक रींझ गया था। अत: उसके हृदय में आशंकाओं के बादल मंडराने लगे।

वह सोचने लगा – यह तो बहुत ही सुन्दर है, मुझे तो यह पूर्णत: पसन्द आ गई है, पर कहीं ऐसा न हो जाए कि यह मुझे नापसन्द कर दे। यदि इसने मुझे नापसन्द कर दिया तो मेरा तो जीना ही मुश्किल हो जावेगा।

वह इस भय से आक्रान्त हो गया कि कहीं यह मुझे अस्वीकार न कर दे। हीन भावना से ग्रस्त वह उससे और कोई बात न कर व्याकुल होकर यह पूछने लगा –

"मैं तुम्हें पसन्द आया या नहीं ?"

स्वभाव से ही संकोची भारतीय ललना कुछ भी न बोल सकी तो उसकी आशंका और भी प्रबल हो उठी; अत: वह और भी अधिक दीन हो गया और अत्यन्त मायूसी से कहने लगा –

"क्या मैं तुम्हें सचमुच ही पसन्द नहीं आया ?"

उसके बार-बार पूछने पर भी वह लड़की हाँ या ना तो न कह सकी, पर नीची निगाह किए हुए ही धीरे से बोली–

"क्या मैं आपको पसन्द आ गई हूँ ?"

"हाँ, हाँ; एकदम। तुम तो देवांगनाओं से भी सुन्दर हो; पर मैं तुम्हें पसन्द आया या नहीं ?" – एकदम अस्त-व्यस्त-सा युवक बोला, पर लड़की नीची निगाह किए मात्र मुस्कुरा कर ही रह गई।

सुसभ्य एवं सुसंस्कृत भारतीय कन्याएँ अपनी सहमति इसप्रकार ही व्यक्त करती हैं। **मौनं सम्मति लक्षणम्** – मौन सम्मति का ही लक्षण है – इस बात को जाननेवाले विवेक के धनी तो सब समझ ही जाते हैं, पर आकुल-व्याकुल वह युवक कुछ भी न समझ सका; अपितु उसकी आशंका और भी अधिक प्रबल हो उठी। अत: घबड़ाकर वह उसके हाथ-पैर जोड़ने लगा और कहने लगा कि तुम मुझे अस्वीकार न कर देना, अन्यथा मेरा जीना ही मुश्किल हो जावेगा।

उसकी यह व्याकुलता देखकर कन्या उससे विरक्त हो गई; क्योंकि उसे तो ऐसा पति चाहिए था कि जिसकी वह विनय करे, पर यहाँ तो उल्टा ही होने लगा था।

जिसप्रकार ऐसे हीन व्यक्तित्व के धनी पुरुषों को भारतीय ललनाएँ पसन्द नहीं करती; उसीप्रकार मुक्ति पर्याय पर भी इस सीमा तक रीझनेवालों को मुक्ति नहीं मिलती।

जिसप्रकार अपने पौरुष से गौरवान्वित पुरुषों के गले में ही सुयोग्य कन्यायें वरमाला डालती हैं; उसीप्रकार भगवान स्वरूप अपने आत्मा पर रीझे पुरुषों के गले में ही मुक्तिरूपी कन्या वरमाला डालती है।

जो व्यक्ति मोक्ष अर्थात् सिद्धदशा की सुखकरता-सुन्दरता देखकर-जानकर उसकी महिमा से इतने आक्रान्त हो जाते हैं कि उन्हें अपना स्वभाव ही तुच्छ

भासित होने लगता है; वे उस युवक के समान हीन भावना से ग्रस्त हो जाते हैं और मुक्ति (सिद्धदशा) की कामना में पंचपरमेष्ठी के सामने गिड़गिड़ाने लगते हैं – ऐसे लोगों को मुक्ति प्राप्त नहीं होती।

दीन-हीन व्यवहार में लीन पुरुषों को मुक्ति प्राप्त नहीं होती। इस बात को बनारसीदासजी इसप्रकार व्यक्त करते हैं–

लीन भयौ विवहार में उकति न उपजै कोइ।
दीनभयौ प्रभु पद जपै मुकति कहाँ सौं होइ ।।[१]

इसीकारण आचार्य कुंदकुंद भी उक्त गाथाओं में अन्य सब विकल्पों को तोड़कर निज भगवान आत्मा की शरण में जाने की बात करते हैं।

वे कहते हैं कि जब पंचपरमेष्ठी पद और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आतमा की ही अवस्थाएँ हैं तो फिर हम आत्मा की ही शरण में क्यों न जाएँ, यहाँ-वहाँ क्यों भटकें ?

अरे भाई ! **पर भगवान या पर्यायरूप भगवान की शरण में जानेवाले भगवानदास बनते हैं, भगवान नहीं। यदि स्वयं ही पर्याय में भगवान बनना हो तो निज भगवान आत्मा की ही शरण में जाना होगा,** उसे ही जानना-पहिचानना होगा, उसमें ही अपनापन स्थापित करना होगा, उसका ही ध्यान धरना होगा, उसमें ही समा जाना होगा – इस बात को कभी भूलना नहीं चाहिए। इसप्रकार इन गाथाओं में भगवान बनने की विधि भी बता दी गई है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि णमोकार मंत्र तो महान है ही; पर आचार्य कुन्दकुन्द की ये गाथायें भी कम महान नहीं हैं, एक अपेक्षा तो उससे भी अधिक महान हैं।

णमोकार महामंत्र में जिन्हें स्मरण किया गया है; उन पंचपरमेष्ठियों के स्मरणपूर्वक हम यही भावना भाते हैं कि–

सभी आत्मार्थी भाई-बहिन निज भगवान आत्मा की शरण में जाकर, निज आत्मा में ही जमकर-रमकर अनन्त सुखी हों। – इसी मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ।

१. नाटक समयसार निर्जराद्वार, छन्द २२

२

भक्ति और ध्यान

विश्व में जितने भी धर्म हैं, उनमें अधिकांश यह मानते हैं कि जगत में कोई एक ऐसी ईश्वरीय सत्ता है, जिसने इस जगत को बनाया है और वही इस जगत का नियंत्रण भी करती है। उसकी मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। इस सन्दर्भ में जैन-दर्शन की मान्यता एकदम स्पष्ट है कि ऐसी कोई सत्ता इस जगत में नहीं है, जो इस जगत का नियंत्रण करती हो, जिसने इसे बनाया हो या जो इसका विनाश कर सकती हो।

जैनदर्शन की यह एक ऐसी विशेषता है कि जो उसे विश्व के अन्य दर्शनों से अलग एवं स्वतंत्र दर्शन के रूप में स्थापित करती है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जिन दर्शनों में ईश्वर को जगत का कर्त्ता-धर्त्ता-नियत्ता स्वीकार किया गया है, उनमें तो उसकी भक्ति विविध प्रकार से की जाती है और की भी जानी चाहिये; क्योंकि सबकुछ उसकी कृपा पर ही निर्भर है, वही दुष्टों को दण्ड देता है और सज्जनों की सम्भाल करता है; भक्तों को अनुकूलता प्रदान करता है और विरोधियों का निग्रह करता है; पर जिस दर्शन में ऐसे किसी भगवान की सत्ता स्वीकार नहीं की गई हो, उसमें भक्ति की क्या उपयोगिता हो सकती है ? फिर भी जैन लोग भी पूजा-पाठ करते हैं, भक्ति करते हैं, उनके यहाँ भक्ति साहित्य भी है। इस सबका क्या औचित्य है ?

जैनदर्शन में नि:स्वार्थ भाव की भक्ति है। उसमें किसी भी प्रकार की कामना को कोई स्थान प्राप्त नहीं है।

जैनदर्शन के भगवान तो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते हैं। वे किसी को कुछ देते नहीं हैं, मात्र सुखी होने का मार्ग बता देते हैं। जो व्यक्ति उनके बताये

मार्ग पर चले, वह स्वयं भगवान बन जाता है। अत: जिनेन्द्र भगवान की भक्ति उन जैसा बनने की भावना से ही की जाती है। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र के निम्नांकित मंगलाचरण से स्पष्ट है।

मोक्षमार्गस्य नेत्तारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

जो मोक्षमार्ग के नेता हैं, कर्मरूपी पर्वतों के भेदन करने वाले हैं और विश्व के समस्त तत्त्वों को जानने वाले हैं; अर्थात् जो हितोपदेशी, वीतरागी और सर्वज्ञ हैं; उक्त गुणों की प्राप्ति के लिए मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।

उक्त छन्द में भगवान के गुणों को स्मरण करते हुए मात्र भगवान बनने की भावना व्यक्त की गई है; भगवान से कुछ करने की प्रार्थना नहीं की गई है, न ही उनसे कुछ मांगा गया है।

जैनदर्शन में भगवान की वीतरागता पर सबसे अधिक बल दिया गया है। जब कोई आत्मा अरहंत बनता है तो सबसे पहले वह वीतरागी होता है, उसके बाद सर्वज्ञ और उसके भी बाद जब उसकी दिव्यध्वनि खिरती है, तब वह हितोपदेशी विशेषण को सार्थक करता है। इस तरह यह सिद्ध है कि वीतरागी हुए बिना सर्वज्ञता सम्भव नहीं है और वीतरागी-सर्वज्ञ हुए बिना हितोपदेशी होना सम्भव नहीं है।

उक्त सन्दर्भ में भगवान पार्श्वनाथ की स्तुति में लिखा गया निम्नांकित छन्द द्रष्टव्य है :-

कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति।
प्रभुस्तुल्य मनोवृति: पार्श्वनाथ: जिनोऽस्तु न:॥

हे भगवान पार्श्वनाथ ! कमठ ने आप पर उपसर्ग किया और धरणेन्द्र ने रक्षा करने का भाव किया। उन्होंने अपनी-अपनी वृत्ति के अनुसार उचित ही कार्य किया; क्योंकि कमठ को आपसे द्वेष था और धरणेन्द्र को राग और राग-द्वेष करने वालों की वृत्ति और प्रवृत्ति ऐसी ही होती है। पर हे भगवान आपकी मनोवृत्ति दोनों में समान ही रही; न तो आपने उपसर्ग करने वाले कमठ से द्वेष

किया और न रक्षा के भाव करने वाले धरणेन्द्र से राग ही किया; दोनों पर समान रूप से समताभाव ही रखा; अत: आपको नमस्कार हो।

यहाँ यह बात कितनी स्पष्ट है कि आपने रक्षा करने वाले से राग नहीं किया और उपसर्ग करने वाले पर द्वेष नहीं किया; इसीकारण हम आपको नमस्कार करते हैं। यदि आप धरणेन्द्र से राग और कमठ से द्वेष करते तो हम आपको नमस्कार नहीं करते; क्योंकि ऐसा तो सभी संसारी जीव दिन-रात करते ही हैं और इसी कारण दु:खी भी हैं। यदि आप भी ऐसा ही करते तो आप में और उनमें क्या अन्तर रहता?

देखो, कितना अन्तर है दोनों दृष्टिकोणों में। जहाँ एक ओर कर्त्तावादी दर्शनों में दुष्टों के दलन के लिए ही भगवान अवतरित होते हैं, भक्तों की रक्षा करने के लिए भगवान दौड़े-दौड़े फिरते हैं, भगवान भगत के वश में हैं – यह कहा जाता है; वहाँ अकर्त्तावादी जैनदर्शन में भगवान को पूर्ण वीतरागी रूप में ही पूजा जाता है। भक्तों का भला करना तो बहुत दूर, यदि वे उन्हें अनुराग की दृष्टि से देखें तो भी हम उन्हें भगवान मानने को तैयार नहीं हैं। इसीप्रकार दुष्टों का दलन करना तो बहुत दूर, यदि भगवान दुष्टों को द्वेष की नजर से देखें तो भी हम उन्हें भगवान मानने को तैयार नहीं हैं।

जैनियों के भगवान तो वीतरागभाव से सहज ज्ञाता-दृष्टा होते हैं। वे जानते सबकुछ हैं, पर करते कुछ भी नहीं। उन्हें कुछ करने का विकल्प भी नहीं उठता, यदि कुछ करने का विकल्प उठे तो वे भगवान ही नहीं हैं। हित का उपदेश भी सर्वांग से खिरने वाली उनकी दिव्यध्वनि में सहज ही प्रस्फुटित होता है, वे उसमें भी कुछ करते-धरते नहीं हैं।

यही है जैनियों के भगवान का सच्चा स्वरूप, पर आज हम जैनी भी उनके इस सच्चे स्वरूप को भली-भाँति कहाँ जानते हैं? कर्त्तावादी दर्शनों की देखा-देखी हम भी उनकी स्तुति कर्त्ता-धर्त्ता के रूप में ही करने लगे हैं। यह सब हमारा अज्ञान ही है। जिनवाणी में भी यदि कहीं इसप्रकार के कथन आये हों तो उन्हें भी व्यवहार का कथन समझना चाहिए। उन्हें वास्तविक कथन

मानकर अपनी श्रद्धा को विचलित नहीं करना चाहिए।

जब जैनियों के भगवान भक्तों का कुछ करते ही नहीं हैं तो फिर उनकी भक्ति लोग करेंगे ही क्यों ? आप नि:स्वार्थभाव की भक्ति की बात करते हैं, पर आज नि:स्वार्थभाव की भक्ति करनेवाले कितने हैं ? और नि:स्वार्थभाव की भक्ति की बात स्वाभाविक भी तो नहीं है, वैज्ञानिक भी तो नहीं है; क्योंकि बिना प्रयोजन तो लोक में कोई कुछ करता देखा ही नहीं जाता।

अरे भाई ! स्वार्थपूर्ति के लिए की गई भक्ति भी कोई भक्ति है, वह तो व्यापार है; व्यापार भी हलके स्तर का। लोग भगवान के पास जाते हैं और कहते हैं कि यदि मेरे बच्चों की तबियत ठीक हो गई तो १०१ रुपये का छत्र चढ़ाऊँगा। क्या यह भक्ति है ? जब आप डॉक्टर के पास जाते हैं, तब क्या डॉक्टर से भी ऐसा ही कहते हैं कि आपकी फीस या दवा की कीमत तब दूँगा कि जब मेरे बच्चे की तबियत ठीक हो जावेगी।

तुम्हारा तो भगवान पर डॉक्टर के बराबर भी भरोसा नहीं है। यदि होता तो काम हो जाने के बाद छत्र चढ़ाने की बात कहाँ से आती ?

भगवान ने कब कहा है कि तुम मुझे छत्र चढ़ाओ तो मैं तुम्हारे बच्चे ठीक कर दूँगा। ये सब अज्ञान की बातें हैं, भक्ति की नहीं। असली भक्ति तो भगवान के गुणों में अनुराग का नाम है। कहा भी है, **'गुणेष्वनुराग: भक्ति: '**।

गुणों में अनुराग तो नि:स्वार्थभाव से ही होता है। सच्चे भक्त भी नि:स्वार्थभाव से ही भक्ति करते हैं। नि:स्वार्थभाव की भक्ति वैज्ञानिक और स्वाभाविक भी है। इसे हम क्रिकेट के खिलाड़ी के उदाहरण से भली-भाँति समझ सकते हैं।

एक व्यक्ति क्रिकेट का विश्व स्तर का बल्लेबाज बनना चाहता है। तदर्थ अभ्यास करने के लिए एक प्रशिक्षक भी रखता है, जो जेठ की दुपहरी की कड़ी धूप में साथ-साथ रहकर उसे अभ्यास कराता है; इस कारण वह उसकी समुचित विनय भी करता है; तथापि उसका चित्र अपने कमरे में नहीं लगाता है। चित्र तो वह अपने घर में विश्वप्रसिद्ध बल्लेबाजों के ही लगाता है, गावस्कर

और कपिलदेव के ही लगाता है।

यद्यपि यह सत्य है कि प्रत्यक्ष उपकारी तो वह प्रशिक्षक ही है, पर उसका आदर्श वह प्रशिक्षक नहीं, विश्वस्तरीय बल्लेबाज हैं। उसका आदर्श वह बल्लेबाज कैसे हो सकता है, जिसका नाम रणजी ट्राफी में भी नहीं आया है, जिले की टीम में भी नहीं आया है ?

यद्यपि विश्वप्रसिद्ध बल्लेबाजों से उसका प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं है, वे उसे कुछ सिखाते नहीं हैं, बताते नहीं हैं, सिखा सकते भी नहीं हैं, बता सकते भी नहीं हैं; उनसे उनका पत्र-व्यवहार भी नहीं है, उसने उन्हें साक्षात् देखा तक नहीं है, मात्र टी.वी. पर ही देखा है; तथापि उसके हृदय में बिना किसी अपेक्षा के उनके प्रति उत्कृष्ट कोटि का बहुमान का भाव बना रहता है; क्योंकि वे उसके आदर्श हैं, उसे उन जैसा ही बनना है।

क्या उस व्यक्ति का विश्वस्तरीय बल्लेबाजों के प्रति वह भक्ति का भाव स्वाभाविक नहीं है, वैज्ञानिक नहीं है, सहज नहीं है ? यदि है तो फिर नि:स्वार्थभाव से की गई जैनियों की भक्ति सहज क्यों नहीं है, स्वाभाविक क्यों नहीं है, वैज्ञानिक क्यों नहीं है ? क्या किसी लौकिक कामना से की गई भक्ति ही स्वाभाविक होती है, सहज होती है ?

जैनदर्शन के अनुसार भगवान की भक्ति का उद्देश्य जब उन जैसा बनना ही है, तब उसके प्रति सहजभाव से भक्ति का भाव होना भी अस्वाभाविक कैसे हो सकता है ?

जिनसे हमारा प्रत्यक्ष सम्पर्क है, जो हमें तत्त्वज्ञान सिखाते हैं या अन्यप्रकार से हमारा उपकार करते हैं; उनके प्रति किए गए विनयभाव के पीछे कदाचित् हमारा स्वार्थभाव भी रह सकता है; पर जिनसे हमारा कभी सम्पर्क भी न रहा हो, जो हमारा कोई कार्य भी न करते हों; उनके प्रति विनयभाव तो एकदम नि:स्वार्थभाव से ही होगा न ?

यही कारण है कि जैनियों की भक्ति नि:स्वार्थभाव की ही भक्ति होती है और वह सहज ही होती है, स्वाभाविक ही है; इसमें कोई अस्वाभाविकता

नहीं है।

जैनियों के भगवान विषय-कषाय और उसकी पोषक सामग्री तो देते ही नहीं, वे तो अलौकिक सुख और शान्ति भी नहीं देते; मात्र सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त करने का उपाय बता देते हैं। यह भी एक अद्भुत बात है कि जैनियों के भगवान भगवान बनने का उपाय बताते हैं।

जगत में ऐसा कोई अन्य दर्शन हो तो बताओ कि जिसमें भगवान अपने अनुयायियों को स्वयं के समान ही भगवान बनने का मार्ग बताते हों। भगवान में लीन हो जाने की बात, उनकी कृपा प्राप्त करने की बात तो सभी करते हैं; पर तुम स्वभाव से तो स्वयं भगवान हो ही और पर्याय में भी भगवान बन सकते हो – यह बात मात्र जैनियों के भगवान ही कहते हैं; साथ में वे भगवान बनने की विधि भी बताते हैं।

भगवान कहते हैं कि भाई ! तुम किसी अन्य परमेश्वर के प्रतिबिम्ब मात्र नहीं हो, तुम तो स्वयं परमेश्वर हो; तुम किसी के अंश भी नहीं, तुम तो स्वयं परिपूर्ण भगवान हो; तुम किसी की परिछाई भी नहीं हो, तुम स्वयं मूलतत्त्व हो; तुम्हें किसी अन्य में लीन नहीं होना है, स्वयं में ही समा जाना है; तुम्हें किसी अन्य के प्रति समर्पित नहीं होना है, अपने में ही समर्पित हो जाना है; तुम्हारा कल्याण कोई अन्य नहीं करेगा, तुम्हें स्वयं ही अपना कल्याण करना है।

तुम अपना कल्याण करने में पूर्णत: समर्थ हो, उसमें अन्य के सहयोग, समर्पण, सेवा, आशीर्वाद की रंचमात्र आवश्यकता नहीं है। जैनदर्शन का मार्ग पूर्ण स्वाधीनता का मार्ग है।

देखो तो गजब की बात है न कि हमारे सबसे बड़े ग्रन्थराज तत्त्वार्थ सूत्र के पहले ही सूत्र में भगवान बनने की विधि बता दी है। ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया कि तुम इतना सीखकर आओ, इतनी साधना करो; तब तुम्हें भगवान बनने की विधि बताई जायेगी।

क्या कहा, तत्त्वार्थ सूत्र में भगवान बनने की विधि नहीं बताई है, मोक्षमार्ग बताया है। अरे भाई, मोक्षमार्ग और भगवान बनने की विधि में क्या अन्तर

है ? मुक्ति में जाना ही तो भगवान बनना है। जो जीव मुक्ति में पहुँच गये, वे ही तो भगवान हैं। क्या आप इतना भी नहीं जानते कि जैनियों में उन्हीं को तो भगवान कहते हैं, जो मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। मुक्ति प्राप्त जीव ही सिद्ध भगवान हैं।

जैनियों के भगवान किसी को अपना भक्त नहीं बनाना चाहते हैं, वे तो सभी भव्यों को भगवान बनने का ही उपदेश देते हैं। वे तो यही चाहते हैं कि सभी जीव मुक्ति के मार्ग पर चलकर भगवान बनकर सिद्धशिला में आकर उन्हीं की बगल में उनकी बराबरी से विराजमान हो जावें।

जगत में आप किसी उद्योगपति या व्यापारी के पास जाओगे तो वह तुम्हें अच्छी नौकरी दे सकता है, नौकरी में तुम्हारी तरक्की कैसे होगी – इसका उपाय बता सकता है; पर तुम्हें वही उद्योग लगाने का उपदेश नहीं देगा, विधि भी नहीं बतायेगा; कहेगा यह तो हमारे व्यापार का राज़ है। वह तो यह चाहेगा भी नहीं कि आप वही उद्योग लगावें, वही व्यापार करें; पर जैनियों के भगवान सभी को भगवान बनने की ही विधि बताते हैं।

अरे भाई, भगवान तो भगवान बनने की विधि बताते हैं, पर हम तो उनके बताये मार्ग पर नहीं चल सकते हैं न? अत: हमारे किस काम की है वह विधि ? हमें तो कुछ ऐसा मार्ग बतावें कि जिस पर हम चल सकें।

अरे भाई, भगवान तो यह कहते हैं कि तुम स्वयं भगवान हो और भगवान बन भी सकते हो। इसीलिए वे तुम्हें भगवान बनने की विधि भी बताते हैं, पर तुम कहते हो कि हम इस मार्ग पर चल नहीं सकते। ऐसी अनुत्साह की बात क्यों करते हो ?

कोई भी समझदार व्यक्ति पाँच लाख के हाथी से यह नहीं कहता कि एक गिलास पानी लाना, पर पाँच वर्ष की कन्या से कहता है; क्योंकि वह ला सकती है, हाथी नहीं ला सकता। जब लोक में भी कोई समझदार व्यक्ति उससे वह काम करने के लिए नहीं कहता, जो उस काम को कर नहीं सकता; अपितु उससे ही कहता है, जो कर सकता है तो क्या भगवान या आचार्यदेव तुमसे भगवान बनने

की बात बिना सोचे-समझे कर रहे होगे ? क्या वे इतना भी नहीं समझते कि तुम कर सकते हो या नहीं ? भगवान बनने का कार्य तुम कर तो सकते हो, पर सबसे बड़ी बाधा तुम्हारी यही मान्यता है कि हम तो यह कार्य कर ही नहीं सकते। अत: तुम इस मान्यता को छोड़ दो और उत्साह से बात को समझो।

अरे भाई, भगवान तुम्हें भगवान बनने की विधि बता रहे हैं और भगवान बनने की प्रेरणा भी दे रहे हैं; – यह हमारा और तुम्हारा महान भाग्य है। चक्रवर्ती की सुन्दरतम कन्या हमारे गले में वरमाला डालने को आवे और हम मुँह फेर लें तो समझ लेना चाहिये कि हमारा भाग्य ही फिर गया है।

इसीप्रकार भगवान हमें मुक्ति का मार्ग बतावें और हम मुँह फेर लें तो इससे बड़ा अभाग्य हमारा और क्या होगा? अत: इन्कार मत करो, उनकी इस सहज सरल हितकारी बात को हम सब नतशिर होकर प्रसन्नता से स्वीकार कर लें – इसमें हम सबका भला है।

वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान ने हमें भगवान बनने की जो विधि बताई है, वह भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप होने से अत्यन्त सरल, सहज एवं स्वाधीन है। पर से भिन्न निज भगवान आत्मा के दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है, पर से भिन्न निज भगवान आत्मा के जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और पर से भिन्न निज आत्मा में जमने-रमने का नाम सम्यक्चारित्र है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र – इन तीनों में ही आश्रयभूत तत्त्व एकमात्र निज भगवान आत्मा ही है; अत: सर्वप्रथम उसे जानना अत्यन्त आवश्यक है।

हम जरा इस बात पर विचार करें कि हमारे मन्दिरों में जिनेन्द्र भगवान की जो मूर्तियाँ विराजमान हैं, वे किस मुद्रा की हैं ? जन्म से लेकर मोक्ष जाने तक तो उनके जीवन में एक से एक अच्छी अनेक मुद्रायें आई होंगी, पर हमने उनकी ध्यान मुद्रा ही क्यों चुनी ?

हमारे घरों में हमने अपनी तस्वीरें भी लगा रखी हैं, पर वे सभी हमारी रागमुद्राओं की तस्वीरें हैं। शादी-विवाह की पति-पत्नी की जोड़े से सजी-संवरी तस्वीरें ही अधिकांश घरों में लटकी मिलेंगी। तीर्थंकरों की भी शादियाँ

हुई थीं। उनकी भी वैसी मुद्रायें क्यों नहीं बनाई गई मूर्तियों में; जबकि अन्य धर्मों में ऐसा होता भी है। राम-सीता, शंकर-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी की मूर्तियाँ इसीप्रकार की बनाई जाती हैं। पर जैन तीर्थंकरों की सभी मूर्तियाँ ध्यान मुद्रा में ही क्यों मिलती हैं ?

जब इस बात पर गम्भीरता से विचार करते हैं तो एक बात अत्यन्त स्पष्ट दिखाई देती है कि ध्यान चारित्र का सर्वोत्कृष्ट रूप है; ध्यान अवस्था में ही केवलज्ञान होता है, अनन्तसुख प्रगट होता है; अनन्तवीर्य की प्राप्ति भी ध्यानावस्था में ही होती है। अत: ध्यान मुद्रा ही धर्ममुद्रा है, सर्वश्रेष्ठ मुद्रा है।

ध्यान सर्वश्रेष्ठ है, पर किसका ध्यान ? अपने आत्मा का; पर का नहीं, परमात्मा का भी नहीं। निजभगवान आत्मा के ध्यान से ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। आज तक जितनी भी आत्माओं को सर्वज्ञता की प्राप्ति हुई है, उन सभी को निज भगवान आत्मा के ध्यान से ही हुई और भविष्य में भी जिन्हें सर्वज्ञता की प्राप्ति होगी, वह भी निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही होनेवाली है। अत: आत्मध्यान ही धर्म है।

आत्मा का ध्यान करने के लिए उसे जानना आवश्यक है। इसीप्रकार अपने आत्मा के दर्शन के लिए भी आत्मा का जानना आवश्यक है। इसप्रकार आत्मध्यान रूप चारित्र के लिए तथा आतमदर्शनरूप सम्यग्दर्शन के लिए आत्मा का जानना जरूरी है तथा आत्मज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान के लिए तो आत्मा का जानना आवश्यक है ही। अन्तत: यही निष्कर्ष निकला कि धर्म की साधना के लिए एकमात्र निज भगवान आत्मा का जानना ही सार्थक है।

सुनकर नहीं, पढ़कर नहीं; आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभूति पूर्वक साक्षात् जानना ही आत्मज्ञान है और इसीप्रकार जानते रहना ही आत्मध्यान है। इसप्रकार का आत्मज्ञान सम्यग्ज्ञान है और इसीप्रकार का आत्मध्यान सम्यक्चारित्र है। जब ऐसा आत्मज्ञान और आत्मध्यान होता है तो उसीसमय आत्मप्रतीति भी सहज हो जाती है, आत्मा में अपनापन भी सहज आ जाता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी उसीसमय होता है; सबकुछ एकसाथ ही

उत्पन्न होता है और सबका मिलाकर एक नाम आत्मानुभूति है।

जब यह आत्मानुभूति प्रगट होती है, तब विषय-कषाय की रुचि तो समाप्त हो ही जाती है, साथ में अनुभूति की सघनता के अनुपात में विषय-कषाय की वृत्ति और प्रवृत्ति भी कम होती जाती है। जब इस अनुभूति का वियोग काल अन्तर्मुहूर्त से भी कम रह जाता है तो साधु दशा प्रगट हो जाती है और जब यह अनुभूतिरूप सघन आत्मध्यान की दशा लगातार अन्तर्मुहूर्त तक रह जाती है तो अनन्त-अतीन्द्रिय-आनन्द के साथ-साथ सर्वज्ञता भी प्राप्त हो जाती है।

अत: सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लिए, आत्मानुभूति के लिए, अनन्त अतीन्द्रिय-आनन्द और सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिए एकमात्र निज भगवान आत्मा को ही जानना है, जानते रहना है। यही मार्ग है, सन्मार्ग है, मुक्तिमार्ग है, परमार्थ है, भगवान बनने का उपाय है, एकमात्र करने योग्य कार्य है, शेष सब अकार्य हैं, जी के जंजाल हैं।

यह सब तो निश्चय मुक्तिमार्ग है, भगवान बनने का पारमार्थिक पंथ है; साथ में व्यवहार मुक्तिमार्ग भी होता है न?

हाँ, होता है, अवश्य होता है; पर व्यवहार मोक्षमार्ग किसे कहते हैं - यह जानते हो ?

निश्चयमोक्षमार्ग माने वास्तविक मोक्षमार्ग। जिसके प्राप्त होने पर नियम से मुक्ति की प्राप्ति हो, उसे ही निश्चयमोक्षमार्ग कहते हैं। उक्त रत्नत्रय ही निश्चयमोक्षमार्ग है। इस रत्नत्रय के साथ भूमिकानुसार रहनेवाला शुभराग और सद्प्रवृत्ति को व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है। उसमें व्रत-शील-संयम- तप-त्याग आदि सभी शुभभावरूप वृत्तियाँ आ जाती हैं।

जब निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप मुक्ति का मार्ग अन्तर में प्रगट होता है, तब से जबतक मुक्ति प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक के काल में उस ज्ञानी धर्मात्मा का जो बाह्य धर्माचरण होता है, अणुव्रतादिरूप शुभभाव होते हैं, तदनुकूल सद्प्रवृत्ति होती है; उसे ही सहचारी होने से व्यवहारमोक्षमार्ग कहते

हैं। वह वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है, मोक्षमार्ग का सहचारी है। अत: उसे भी उपचार से व्यवहारमोक्षमार्ग कह दिया जाता है।

क्या निज भगवान आत्मा को जानते रहने का नाम ही ध्यान है, जानते रहने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करना है?

हाँ, भाई ! बात तो ऐसी ही है। उपयोग के आत्मा पर केन्द्रित होने के अतिरिक्त और ऐसा क्या है, जिसे ध्यान कहा जाय ? जब आपसे यह कहा जाता है कि आप ध्यान करो तो आप उपयोग को केन्द्रित करने के अतिरिक्त और करते भी क्या हैं ? जब आप किसी से यह कहते हैं कि मुझसे तो ध्यान होता ही नहीं है तो उसका यही अर्थ होता है न कि आपका उपयोग आत्मकेन्द्रित नहीं होता है। पद्मासन तो आप लगा ही लेते हैं, हाथ पर हाथ रखकर भी बैठ ही जाते हैं, दृष्टि को भी नाशाग्र कर ही लेते हैं, रीढ़ की हड्डी को एकदम सीधी रखते ही हैं; पर ऐसा क्या बाकी रह गया कि आप कहते हैं कि ध्यान लगता ही नहीं। यही न कि आत्मा के ध्यान में मन नहीं लगता और तो सब क्रिया-प्रक्रिया तो पूरी कर ही लेते हैं, पर मन नहीं लगता।

यह मन का नहीं लगना क्या है ?

उपयोग का आत्मा पर केन्द्रित नहीं होना ही मन का नहीं लगना है। बाह्य क्रिया-प्रक्रिया का अभ्यास करने से कुछ भी होनेवाला नहीं है, जब तक भगवान आत्मा का स्वरूप हमारी समझ में नहीं आयेगा, तबतक मन आत्मा में लगनेवाला नहीं है। जब मन आत्मा को जानता ही नहीं है, पहिचानता ही नहीं है; तो आखिर वह लगे भी कहाँ ?

मन आत्मा में लगे इसके लिए आत्मा के सच्चे स्वरूप को पहले जिनवाणी के माध्यम से, आत्मा के स्वरूप को जानने वाले सत्पुरुषों के माध्यम से, अध्ययन-मनन-चिन्तन के माध्यम से, तर्क-वितर्क के माध्यम से गहराई से जानना होगा; तब वह भगवान आत्मा हमारे अतीन्द्रिय ज्ञान का ज्ञेय बनेगा, ध्यान का ध्येय बनेगा और श्रद्धान का श्रद्धेय बनेगा; तभी उसमें अपनापन स्थापित होगा, तभी पर से अपनापन टूटेगा, पर्याय में अपनापन टूटेगा;

एकमात्र त्रिकाली ध्रुव ज्ञानानन्द स्वभावी निजभगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होगा।

अरे भाई ! आत्मकल्याण करना है तो, भगवान बनना है तो एकमात्र निज भगवान आत्मा को जानने-पहिचानने में शक्ति लगावो, सक्रिय हो जावो – कल्याण के मार्ग पर चलने का एकमात्र यही उपाय है।

आत्मा की बात शास्त्रों में लिखी है, पर उसका रहस्य ज्ञानियों के हृदय में रहता है। अत: शास्त्रों के अध्ययन के साथ-साथ ज्ञानियों का सत्समागम भी आवश्यक है, उनकी वाणी का श्रवण भी आवश्यक है। पढ़ने और सुनने से भी काम नहीं चलेगा; क्योंकि जबतक उसे तर्क की कसौटी पर कसकर उसकी परीक्षा नहीं करेंगे, तबतक वह अपना नहीं बन पावेगा, शास्त्रों और गुरुओं का बनकर रह जावेगा, हम तो मात्र सूचना विभाग के दफ्तर बनकर रह जावेंगे।

जिसप्रकार सूचना विभाग के दफ्तर में सर्वप्रकार की सूचनाओं का संग्रह रहता है, पर वह विभाग उनसे अलिप्त ही रहता है; उसीप्रकार हम भी पढ़कर, सुनकर दूसरों को सुना देंगे या नये ग्रन्थ लिख देंगे, पर वह सत्य अपना नहीं बन पावेगा। जब हम उसे तर्क की कसौटी पर कसकर स्वीकार करेंगे तो हमारी उसके प्रति श्रद्धा जागृत होगी। परिणामस्वरूप हम सर्वशक्ति लगाकर उस परमसत्य का अनुभव करना चाहेंगे और समय पर हमें वह अनुभव प्राप्त होगा भी। धर्म के नाम पर मात्र बाह्य प्रवृत्ति में उलझे रहकर समय खराब नहीं करना चाहिए।

बाह्य सदाचार और शुभभाव ज्ञानी धर्मात्माओं के जीवन में भी होता है और होना भी चाहिए; पर वह आत्मा का धर्म नहीं है, आत्मा का धर्म तो निज भगवान आत्मा को जानना-पहिचानना और उसमें जमना-रमना ही है।

यह बाह्याचार एवं सदाचार के निषेध की बात नहीं है, पर उसमें ही धर्म मानकर सन्तुष्ट हो जाने के निषेध की बात अवश्य है; क्योंकि वहीं सन्तुष्ट हो जाने से आत्मा की खोज का काम शिथिल हो जाता है, समाप्त हो जाता है।

शिथिल और समाप्त होने की क्या बात करें, सचमुच तो आत्मा की खोज का कार्य आरम्भ ही नहीं होता है और यह आतमा बाह्य क्रियाकाण्ड में ही उलझकर रह जाता है।

जैनधर्म की यह मान्यता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का भला-बुरा नहीं करता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करता ही नहीं है तो फिर भले-बुरे का सवाल ही कहाँ उठता है। जब यह बात सत्य है तो फिर दूसरे द्रव्य की क्रिया से किसी आत्मा का धर्म कैसे हो सकता है ? अत: यह सुनिश्चित है कि आत्मा का धर्म आत्मा में ही होता है, देहादि में नहीं, देहादि की क्रिया में भी नहीं।

जैनदर्शन के अनुसार पर में कुछ करना कठिन नहीं, अशक्य है। अत: धर्म भी पर में कुछ करने रूप नहीं हो सकता। आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, जानना है; अत: जानना आत्मा का सहज धर्म है,आत्मा को जानते रहना भी आत्मा का सहज धर्म है।अत: आत्मज्ञान और आत्मध्यान आत्मा के सहजधर्म हैं। इसलिए इनसे कोई कठिनाई का सवाल ही नहीं उठता।

तस्वीरे खुदा हृदय के आइने में है,
जब चाही गर्दन झुकाई देख ली।

इसमें कहा गया है कि खुदा की तस्वीर तेरे हृदयरूपी-दर्पण में है, अत: तू जब चाहे गर्दन झुकाकर उसे देखा जा सकता है। पर भाई, यह बात तो इस्लाम की है, हमारी नहीं।

अरे भाई, क्या गर्दन झुकाना कोई आसान काम है ? विशेषकर उस स्वाभिमानी देश में जहाँ कहा जाता है कि **गर्दन कटा सकते हैं पर गर्दन झुका सकते नहीं।**

स्वाभिमानियों के लिए तो गर्दन झुकाना भी मौत से कम नहीं है।

जब कभी हमारी गर्दन में दर्द हो जाता है तो गर्दन का हिलाना भी असंभव हो जाता है, झुकाना तो बहुत दूर की बात है। इतनी तकलीफ उठाकर भी, स्वाभिमान खोकर भी यदि गर्दन झुका भी ली तो भी क्या मिलने वाला है ?

दर्शन भी खुदा के नहीं, खुदा की तस्वीर के होंगे। हमें किसी की तस्वीर के दर्शन नहीं करना है, हमें किसी अन्य खुदा के भी दर्शन नहीं करने हैं। हम तो स्वयं खुदा हैं न ?

कम्बख्ती इस रूह की ऐसी है कि
खुद खुदा होकर भी बन्दा नजर आता है।

अरे भाई, हम किसी के बन्दा नहीं, खुद खुदा हैं। हम किसी के भक्त नहीं, वरन् स्वयं भगवान हैं। हमें किसी अन्य खुदा के दर्शन नहीं करना हैं; स्वयं को ही जानना-पहिचानना है। स्वयं को जानने के लिए, देखने के लिए गर्दन झुकाने की आवश्यकता नहीं होती है, अपितु ज्ञान पर्याय को त्रिकाली ध्रुव में लगाना होता है, अपने भगवान आत्मा को ज्ञान का ज्ञेय बनाना होता है। यही कारण है कि हमारी जो ध्यान की मुद्रा है, उसमें हमारी गर्दन झुकी नहीं रहती है, अपितु एकदम सीधी रहती है और सीधी रहनी चाहिए।

बहुत से लोग कहते हैं कि ध्यान में हमें अपनी नाक को देखना चाहिए, नाक की नोक देखना चाहिए। कोई कहते हैं कि आते-आते श्वास-प्रश्वास को देखना चाहिए; पर इसमें तो नाक के दर्शन होंगे; आत्मा के नहीं। धर्म तो आत्मा के दर्शन का नाम है; नाक के दर्शन या श्वास-प्रश्वास के दर्शन का नाम नहीं।

इस पर यदि कोई कहे कि जैनदर्शन में भी तो ध्यान में नाशाग्रदृष्टि की बात कही गई है। हाँ, हाँ, नाशाग्रदृष्टि की बात कही गई है, पर नाक के दर्शन की तो नहीं कही। नाशाग्रदृष्टि और नाक के दर्शन में बहुत अन्तर है।

खुली आँख परदर्शन की निशानी है और बन्द आँख सो जाने की, प्रमाद की निशानी है। न परदर्शन में धर्म है और न प्रमाद में। धर्म तो आत्मदर्शन का नाम है, धर्म तो अप्रमाद दशा का नाम है। नाशाग्रदृष्टि आत्मदर्शन और अप्रमाद की प्रतीक है।

क्यों और कैसे ?

यदि हमें आत्मा का दर्शन करना है तो प्रमाद छोड़कर उपयोग को आत्मसन्मुख करना होगा। चूँकि आत्मदर्शन इन आँखों से संभव नहीं है; अत:

इन पर से उपयोग को हटाना होगा। आँखों को न बन्द करना है, न खोलना है और न नाशाग्र ही करना है; आँखों में कुछ करना ही नहीं है, उन पर से तो उपयोग हटाना है और आत्मा पर ले जाना है।

ऐसी स्थिति में आँखों की स्थिति कैसे रहेगी, क्या चाहे जैसी रह सकती है?

नहीं, नाशाग्र ही रहेगी; क्योंकि नाशाग्र होना ही ज्ञानी-ध्यानी की आँख की सहज अवस्था है। आँख भीचने में भी उपयोग लगेगा; और खोले रखने में भी उपयोग लगेगा; पर नाशाग्रता में उपयोग की आवश्यकता नहीं है। उपयोग आँख पर से हटकर आत्मा में चला जावे तो आँख सहज नाशाग्र हो जाती है। आँख नाशाग्र होती है, पर नाक दिखती नहीं; क्योंकि दिखाई तो आत्मा दे रहा है। जब नाक दिखती है तो आत्मा नहीं दिखता और जब आत्मा दिखता है तो नाक नहीं दिखती। छद्मस्थों की यही स्थिति है।

अत: यह स्पष्ट है कि नाशाग्रदृष्टि का अर्थ नाक को देखना नहीं है। मैं आपसे पूछता हूँ कि जब भगवान को केवलज्ञान हुआ था, तब वे क्या कर रहे थे ?

कुछ नहीं। पर का तो कुछ भी नहीं कर रहे थे; पर अपने आत्मा का ध्यान अवश्य कर रहे थे।

तो बस, समझ लीजिए कि पर का कुछ भी करना धर्म नहीं है; क्योंकि पर का करते-करते आज तक किसी को केवलज्ञान नहीं हुआ। आत्मा का ध्यान ही धर्म है, क्योंकि आजतक जितने जीवों को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है, सभी को आत्मा का ध्यान करते-करते ही हुई है। अत: आत्मा का ध्यान ही धर्म है।

आत्मा का ध्यान करने के लिए पहले उसे जानना जरूरी है; अत: धर्म करने की इच्छा रखनेवाले को सर्वप्रथम आत्मा को जानने का, पहिचानने का प्रयास करना चाहिए। यही मार्ग है, शेष सब अमार्ग हैं, छलावा मात्र हैं।

सभी आत्मार्थीजन निज भगवान आत्मा को जानकर, पहिचानकर, उसका ही ध्यान धरें; – इस पावन भावना से विराम लेता हूँ। ●

३

जीवन-मरण और सुख-दु:ख

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन-मरण और सुख-दु:ख के कारण उसी के अन्दर विद्यमान हैं। कोई अन्य व्यक्ति न तो उसे मार ही सकता है और न ही उसे बचा सकता है। अत: अन्य जीवों को अपने जीवन-मरण और सुख-दु:ख का कारण मानना सबसे बड़ी भूल है और इस भूल के कारण ही हम व्यर्थ ही दूसरों को मित्र-शत्रु मानकर राग-द्वेष किया करते हैं।

यदि एक बार यह परमसत्य हमारी समझ में आ जाय तो हमारी अनंत आकुलता सहज ही समाप्त हो सकती है।

इस परमसत्य का उद्घाटन आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने निम्नांकित गाथाओं में इसप्रकार किया है –

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कदं तेहिं॥
जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउंच ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीवदि कदं तेहिं॥

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥[१]

इन गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार है –

मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारे अन्यजन।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन॥
निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं॥
निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही।
वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं॥
मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावे अन्यजन।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन॥
सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही।
जीवित रखोगे किसतरह जब आयु दे सकते नहीं॥
सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही।
कैसे बचावें वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं॥
मैं सुखी करता दु:खी करता हूँ जगत में अन्य को।
यह मान्यता अज्ञान है, क्यों ज्ञानियों को मान्य हो॥

ये गाथाएँ मूलत: समयसार के बंधाधिकार की गाथाएँ हैं, जिनमें एक महान सत्य की ओर जगत का ध्यान आकर्षित किया गया है। इन गाथाओं में तीर्थंकर परमात्मा की साक्षी पूर्वक यह बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही गई है कि जो व्यक्ति यह मानता है कि मैं दूसरों को मारता हूँ या दूसरे मुझे मारते हैं; मैं दूसरों की रक्षा करता हूँ या दूसरे मेरी रक्षा करते हैं; मैं दूसरों को सुखी-दु:खी करता हूँ या दूसरे मुझे सुखी-दु:खी करते हैं; वह व्यक्ति मूढ़ है, अज्ञानी है; तथा ज्ञानियों की मान्यता इससे विपरीत होती है। तात्पर्य यह है कि एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है।

१. समयसार : बंधाधिकार गाथा २४७ से २५३

इस महान सिद्धान्त को जगत के समक्ष रखते हुए आचार्यदेव ने करणानुयोग को आधार बनाकर जो वजनदार युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, वे अपने आप में अद्भुत हैं, अकाट्य हैं।

अपनी बात को सिद्ध करते हुये आचार्यदेव कहते हैं कि जब सौ इन्द्रों की उपस्थिति में, चार ज्ञान के धारी गणधरदेव की उपस्थिति में तीर्थंकर परमात्मा अरहंतदेव ने अपनी दिव्यध्वनि में डंके की चोट पर यह बात कही है कि जगत का प्रत्येक प्राणी अपने आयुकर्म के क्षय से मरण को प्राप्त होता है और आयुकर्म के उदय से ही जीवित रहता है तो फिर कोई किसी के जीवन-मरण का उत्तरदायी कैसे हो सकता है ?

जब तुम किसी के आयुकर्म का हरण नहीं कर सकते हो तो फिर उसे मार भी कैसे सकते हो ? इसीप्रकार जब कोई अन्य व्यक्ति तुम्हारे आयुकर्म का हरण नहीं कर सकता है तो वह तुम्हें भी कैसे मार सकता है ?

यही बात जीवन के संदर्भ में भी कही जा सकती है। जब प्रत्येक प्राणी अपने आयुकर्म के उदय से जीवित रहता है और जब तुम किसी को आयुकर्म दे नहीं सकते हो तो फिर तुम उसकी रक्षा भी किसप्रकार कर सकते हो ? इसीप्रकार जब कोई अन्य व्यक्ति तुम्हें आयुकर्म नहीं दे सकता है तो फिर वह तुम्हारी रक्षा भी किसप्रकार कर सकता है ?

इसीप्रकार सुख-दुःख के सन्दर्भ में भी घटित कर लेना चाहिए। प्रत्येक जीव अपने शुभकर्म के उदयानुसार लौकिक सुख प्राप्त करता है, अनुकूल संयोग प्राप्त करता है और अपने अशुभकर्म के अनुसार दुःख प्राप्त करता है, प्रतिकूल संयोग प्राप्त करता है। यह परमसत्य जिनेन्द्र भगवान की वाणी में आया है।

जब तुम किसी को भी शुभाशुभकर्म नहीं दे सकते हो तो उसे सुखी-दुःखी भी कैसे कर सकते हो ? इसीप्रकार जब कोई तुम्हें शुभाशुभकर्म नहीं दे सकता है तो वह तुम्हें भी सुखी-दुःखी कैसे कर सकता है ?

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणी अपने सुख-दुःख एवं जीवन-मरण का

कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता स्वयं ही है, अपने भले-बुरे का उत्तरदायी भी पूर्णत: स्वयं ही है।

इस परमसत्य से अपरिचित होने के कारण ही अज्ञानीजन अपने सुख-दु:ख एवं जीवन-मरण का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता अन्य जीवों को मानकर अकारण ही उनसे राग-द्वेष किया करते हैं। अज्ञानी के यह राग-द्वेष-मोह परिणाम ही उसके अनन्त दु:खों के मूल कारण हैं।

पर में ममत्व एवं कर्तृत्व बुद्धि से उत्पन्न इन मोह-राग-द्वेष परिणामों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने वाले इस महासिद्धांत को जगत के सामने रखकर आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने हम सब का महान उपकार किया है; क्योंकि जगतजनों के जीवन का सर्वाधिक समय इसी चिंता और आकुलता-व्याकुलता में जाता है कि कोई हमें मार न डाले, दु:खी न कर दे; मैं पूर्ण सुरक्षित रहूँ, जीवित रहूँ, सुखी रहूँ। अपनी सुरक्षा के उपायों में ही हमारी सर्वाधिक शक्ति लग रही है, बुद्धि लग रही है, श्रम लग रहा है। अधिक क्या कहें – हमारा सम्पूर्ण जीवन ही इसी के लिए समर्पित है, इसी चिन्ता में बीत रहा है।

पड़ौसी-पड़ौसी से आतंकित है, आशंकित हैं; एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यंत्र रचने में संलग्न हैं, सुरक्षा के नाम पर विनाश की तैयारी में मग्न हैं; निराकुलता और शान्ति किसी के भी जीवन में दिखाई नहीं देती।

इस मूढ़ जगत ने अपनी सुरक्षा के नाम पर संसार के विनाश की इतनी सामग्री तैयार कर ली है कि यदि उसका शतांश भी उपयोग में आ जावे तो सम्पूर्ण मानव जाति ही समाप्त हो सकती है। आश्चर्य और मजे की बात तो यह है कि हमने इस मारक क्षमता का विकास सुरक्षा के नाम पर किया है, यह सब अमरता के लिए की गई मृत्यु की ही व्यवस्था है।

घटिया माल को बढ़िया पेकिंग में प्रस्तुत करने का अभ्यस्त यह जगत हिंसक कार्यों के लिए भी अहिंसक शब्दावली प्रयोग करने में इतना माहिर हो गया है कि मछलियाँ मारने का काम भी मत्स्य पालन उद्योग के नाम से करता है, कीटाणुनाशक (एन्टी बाइटिक्स) दवाओं को भी जीवन रक्षक दवाइयाँ

कहता है।

इसप्रकार यह जगत हथियारों का अंबार लगाकर अपने को सुरक्षित करना चाहता है; पर भाई हथियार तो मृत्यु के उपकरण हैं, जीवन के नहीं; इस सामान्य तथ्य की ओर आपका ध्यान क्यों नहीं जाता ? हथियारों के प्रयोग से आज तक किसी का जीवन सुरक्षित तो हुआ नहीं, मौत का ताण्डव अवश्य हुआ है।

इस परमसत्य के स्पष्टीकरण के लिए मैं आपका ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ; भारत में लगभग एक करोड़ जैन रहते हैं, यदि उनके घरों की तलाशी ली जावे तो एक प्रतिशत घरों में भी कोई भी शस्त्र नहीं मिलेगा। जैन मंदिरों की तो यह हालत है कि आग्नेय शस्त्र तो बहुत दूर, किसी भी मंदिर में एक लाठी भी प्राप्त नहीं होगी। शस्त्रों से विहीन इस अहिंसक समाज का एक भी व्यक्ति शस्त्रों से बेमौत नहीं मरता, सभी अपनी सहज मौत से ही मरते हैं।

दूसरी ओर देखें तो पंजाब के घर-घर में हथियार हैं और गुरुद्वारे तो हथियारों से भरे पड़े हैं। जब भी किसी गुरुद्वारे का सैनिकों द्वारा ऑपरेशन होता है तो वे हथियारों के पहाड़ों से पटे मिलते हैं, फिर भी वे लोग सुरक्षित नहीं हैं। हम प्रतिदिन समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं कि आज इतने मरे और आज इतने मरे। नहीं मरने का तो कोई सवाल ही नहीं है, बस अब तो इतना ही देखना होता है कि आज कितने मरे ? ऐसा कोई दिन नहीं जाता कि जिस दिन पंजाब या कश्मीर में दस-बीस हत्यायें न होती हों। यह सब क्या है?

इससे तो यही सिद्ध होता है कि शस्त्र सुरक्षा के साधन नहीं हैं, अपितु मौत के ही मौन आमंत्रण हैं; क्योंकि जिनके पास हथियार नहीं होते, वे हथियारों से नहीं मरते; पर जिनके पास हथियार होते हैं, वे प्राय: हथियारों से ही मारे जाते हैं।

मान लीजिए मेरे पास दस हजार रुपये हैं और वे रुपये मुझ निहत्थे से कोई छीनना चाहता है तो उसे हथियार लाने की कोई आवश्यकता नहीं है,

एक डंडा ही पर्याप्त है। डंडा भी मारने की आवश्यकता नहीं है, दिखाना ही पर्याप्त है; क्योंकि डंडा दिखाने मात्र से ही उसे रुपये प्राप्त हो जायेंगे।

इसप्रकार मेरा शस्त्रों से मरना तो बहुत दूर, डंडे से पिटना भी संभव नहीं है; किन्तु यदि किसी हथियार वाले को लूटना हो तो लुटेरों को हथियारों से सुसज्जित होकर ही आना होगा। लुटेरे उसके रुपये तो लूटेंगे ही, जान से भी मार सकते हैं; क्योंकि उससे उन्हें सदा खतरा बना रहेगा।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि हथियार सुरक्षा के साधन नहीं, मौत के ही सौदागर हैं। फिर भी कुछ लोग कहते हैं कि हमारे हथियारों के भय से हम पर कोई आक्रमण करने की हिम्मत ही नहीं करेगा, अत: हम सुरक्षित रहेंगे। ऐसा सोचने वालों से मेरा कहना यह है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि तुम्हारे शस्त्रों के भय से तुम पर कोई आक्रमण नहीं करेगा; पर जब तुम स्वयं बीमार होकर मरोगे, तब क्या होगा ?

इस आशंका से आकुल-व्याकुल इस जगत ने अनेक प्रकार की औषधियों का निर्माण किया है। 'कोई मार न दे' – इस आशंका से एक प्रकार की गोलियाँ (अणुबम) बनाई हैं तो 'बीमारियों से स्वयं ही न मर जावे' – इस भय से दूसरे प्रकार की गोलियाँ (दवाइयाँ) बनाई हैं। जीवन रक्षक (एन्टीबाइटिक्स) दवाइयों का उत्पादन इसकी इसी आकांक्षा का परिणाम है।

इसप्रकार यह स्वयं को गोलियों के बल पर मरण भय से मुक्त करना चाहता है, पर आजतक तो कोई सदेह अमर हो नहीं पाया है। लाखों लोगों को दम तोड़ते हम प्रतिदिन देखते ही हैं।

इसीप्रकार सुखी रहने और दुःख दूर करने के लिए भी इसने दर्दनाशक दवाओं का निर्माण किया है। खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना, सभी प्रकार के भोगों को भोगना एवं भोगसामग्री इकट्ठी करना भी इसकी इसी आकांक्षा के परिणाम हैं।

पर इतना सब-कुछ कर लेने के बाद भी न तो यह अमर ही हो सका है और न ही सुखी ही; क्योंकि अमर और सुखी होने का जो रास्ता इस जगत

ने चुना है, वह सम्यक् नहीं है। न तो शस्त्र सुरक्षा के साधन ही हैं और न दवाइयाँ दुःख दूर करने में समर्थ हैं; क्योंकि न तो वे लोग सुरक्षित ही दिखाई देते हैं, जो शस्त्रों की सुरक्षा में रहते हैं और न वे सुखी ही दिखाई देते हैं, जो प्रतिदिन दस-पाँच गोलियाँ तो खाते ही हैं।

शस्त्रों से सुरक्षा की बात तो पंजाब के उदाहरण से स्पष्ट हो ही चुकी है, रही बात जीवन रक्षक दवाइयों से सुरक्षा एवं दर्दनाशक दवाइयों से सुखी हाने की बात, सो भाई ! भारतवर्ष में ऐसे अनेक नग्न दिगम्बर संत मिलेंगे, जिन्होंने जीवन में एक भी गोली नहीं खाई होगी। दिन में एक बार शुद्ध सात्विक आहार लेनेवाले, दूसरी बार जल का बिंदु भी ग्रहण नहीं करने वाले वीतरागी संत सौ-सौ वर्ष की आयु पर्यन्त पूर्ण स्वस्थ दिखाई देते हैं और अपनी पूर्ण आयु को चलते-फिरते आत्मसाधना में रत रहते आनन्द से भोगते हैं; जबकि प्रतिदिन अनेक गोलियां खाने वाले दिन-रात भक्ष्य-अभक्ष्य पौष्टिक पदार्थ भक्षण करनेवाले जगतजन भरी जवानी में ही जवाब देने लगते हैं।

इसप्रकार यह अत्यंत स्पष्ट है कि न तो हथियार सुरक्षा के साधन हैं, और न ही भोगोपभोग सामग्री तथा औषधियाँ सुखी होने का वास्तविक उपाय हैं; आयुकर्म का उदय जीवन का आधार है और शुभकर्मों का उदय लौकिक सुखों का साधन है। ये कर्म भी जीव स्वयंकृत शुभाशुभ भावों के अनुसार स्वयं ही बांधता है। इसप्रकार यह प्राणी अपने जीवन-मरण और सुख-दुःख का पूर्ण उत्तरदायी स्वयं ही है, अन्य किसी का इसमें रंचमात्र भी हस्तक्षेप नहीं है।

इसी बात को यहाँ बड़ी दृढ़ता से प्रस्तुत किया गया है कि जो यह मानते हैं कि मैं दूसरों को मारता हूँ या उनकी रक्षा करता हूँ अथवा दूसरे मुझे मारते हैं या वे मेरी रक्षा करते हैं; वे मूढ़ हैं, अज्ञानी हैं; और ज्ञानी इससे विपरीत हैं; क्योंकि ज्ञानी ऐसा नहीं मानता वह तो यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने सुख-दुःख और जीवन-मरण का पूर्ण उत्तरदायी स्वयं ही है, कोई किसी के जीवन-मरण और सुख-दुःख का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता नहीं है।

दूसरों को मारने, बचाने या दुःखी-सुखी करने के विकल्प में उलझे

अथवा कोई मुझे मार न दे, दुःखी न कर दे, – इस कल्पना से भयाक्रांत अथवा कोई मुझे बचाले या सुखी कर दे – इस भावना से दीन-हीन इस जगत को समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई ! तू एक बार गंभीरता से विचार तो कर कि क्या तेरी आयु शेष रहते कोई तुझे मार सकता है, आयु समाप्त हो जाने पर भी क्या कोई तुझे बचा सकता है, अशुभ कर्मों का उदय रहते क्या तुझे कोई सुखी कर सकता है तथा शुभकर्मों का उदय विद्यमान होने पर भी क्या तुझे कोई दुःखी कर सकता है ? यदि नहीं तो फिर क्यों व्यर्थ ही भयाक्रान्त होता है, दीन-हीन होकर किसी के सामने गिड़गिड़ाता भी क्यों है?

अनिर्णय की स्थिति में पड़े हुए संशयग्रस्त प्राणी के भय और दीनता का एक ही कारण है और वह है अन्य को अपने जीवन-मरण और सुख-दुःख का कारण मानना। इसीप्रकार इसके अभिमान का कारण भी यह मानना है कि मैं दूसरों को मार सकता हूँ, बचा सकता हूँ; सुखी-दुःखी कर सकता हूँ।

'मैं दूसरों को मार सकता हूँ' – इस मान्यता से उत्साहित होकर यह दूसरों को धमकाता है, अपने अधीन करना चाहता है। इसीप्रकार 'मैं दूसरों को बचा सकता हूँ' – इस मान्यता के आधार पर भी दूसरों को अपने अधीन करना चाहता है। सुखी-दुःखी कर सकने की मान्यता के आधार से भी इसीप्रकार की प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पर में हस्तक्षेप करने की कुत्सित भावना ही इसके मन को अशान्त करती है, आकुल-व्याकुल करती है, दीन-हीन बनाती है। यदि हम चाहते हैं कि हमारा चित्त अशांत न हो, आकुल-व्याकुल न हो, भयाक्रांत न हो, दीन-हीन न हो तो हमें आचार्य कुन्दकुन्द की उक्त पंक्तियों पर गहराई से विचार करना चाहिए, चिन्तन करना चाहिए, मनन करना चाहिए।

किसी अन्य के कुछ करने-धरने से तो हमारा हित-अहित होता ही नहीं है, किसी के आशीर्वाद और शाप से भी कुछ नहीं होता।

लोक में कहावत भी है कि 'कौओं के कोसने से ढोर (पशु) नहीं मरते।'

यदि कौओं के कोसने से पशु मरने लग जावें तो जगत में एक भी पशु का बचना सम्भव नहीं है; क्योंकि लोक में कोसने वाले कौओं की कमी नहीं है।

आशीर्वाद के सन्दर्भ में भी यही बात है। प्रत्येक माँ अपने प्रत्येक बालक को अत्यंत पवित्र हृदय से भरपूर आशीर्वाद देती है, पर एक ही माँ का एक बालक विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करता है और दूसरा अनुत्तीर्ण हो जाता है। एक जिलाधीश बन जाता है और दूसरे को चपरासी बनना पड़ता है। यदि माँ के आशीर्वाद से कुछ होता हो तो दोनों बालकों को एक-सा फल प्राप्त होना चाहिए, पर ऐसा देखने में नहीं आता। सच्ची बात तो यह है कि यदि आशीर्वाद से कुछ होने की बात होती तो किसी का भी कुछ भी अनिष्ट होने की सम्भावना ही समाप्त हो जाती; क्योंकि प्रत्येक माँ अपने प्रत्येक बेटे को भरपूर आशीर्वाद देती ही है।

इससे यही प्रतिफलित होता है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुःख व जीवन-मरण उसके स्वयं के कर्मानुसार ही होते हैं।

'जैसा करोगे, वैसा भरोगे' की सूक्ति को सार्थक करने वाला आचार्य कुन्दकुन्द का यह कथन लोगों को अपने आचरण सुधारने की भी पावन प्रेरणा देता है। श्रद्धा ही आचरण को दिशा प्रदान करती है। जबतक हमारी श्रद्धा ही सम्यक् न होगी, तबतक आचरण भी सम्यक् होना सम्भव नहीं है।

जबतक छात्रों की श्रद्धा यह रहेगी कि पढ़ने से क्या होता है, विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान तो प्राध्यापकों की कृपा से ही प्राप्त होता है; तबतक छात्रों का मन पढ़ने में कैसे लगेगा ? वे तो प्राध्यापकों को प्रसन्न करने के लिए उनके घरों के ही चक्कर काटेंगे।

जबतक कोई लिपिक यह मानता रहेगा कि काम करने से क्या होता है, पदोन्नति तो अधिकारियों के प्रसन्न होने पर ही होगी; तबतक उसका मन काम करने में कैसे लगेगा, वह तो अधिकारियों की सेवा में ही संलग्न रहेगा।

जबतक व्यापारी यह समझते रहेंगे कि ईमानदारी से आजतक कोई करोड़पति नहीं बना, करोड़पति बनने के लिए तो ऊँचा-नीचा करना ही पड़ता

है; तबतक कोई व्यापारी ईमानदारी के चक्कर में क्यों पड़ना चाहेगा, वह तो ऊँचा-नीचा करने में ही व्यस्त रहेगा।

जबतक मुख्यमंत्री यह समझते रहेंगे कि जनता की सेवा करने से क्या होता है, कुर्सी तो तभी तक सुरक्षित है, जबतक प्रधानमंत्री प्रसन्न है; तबतक कोई मुख्यमंत्री जनता की समस्यायें सुलझाने में क्यों माथा मारेगा, वह तो प्रधानमंत्री को प्रसन्न करने के लिए दिल्ली में ही डटा रहेगा।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मिथ्या श्रद्धा के कारण, गलत विश्वास के कारण, उल्टी मान्यता के कारण आज देश की क्या दुर्गति हो रही है। यदि यह श्रद्धा पलट जावे तो चन्द दिनों में ही देश का नक्शा पलट सकता है।

छात्र यह सोचने लगें कि प्राध्यापकों के घर के चक्कर काटने से क्या होता है, विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान तो सर्वाधिक अध्ययन करने वाले छात्र को ही प्राप्त होगा। लिपिक यह सोचने लगें कि अधिकारियों के चक्कर काटने से क्या होता है, पदोन्नति तो अच्छा काम करने से ही होगी। व्यापारी यह सोचने लगें कि बेईमानी से स्थाई लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता है; क्योंकि काठ की हाँडी बार-बार नहीं चढ़ती, किसी-किसी को और कभी-कभी ही धोखा दिया जा सकता है, सभी को सदाकाल धोखे में रखना सम्भव नहीं है। यदि स्थाई लाभ प्राप्त करना है तो ईमानदारी से ही काम करना होगा। मुख्यमंत्री भी यह समझने लगे कि प्रधानमंत्री की चापलूसी करने से क्या होता है, पद तो तभी तक सुरक्षित है, जबतक जनता जनार्दन चाहेगी।

बस, इतना विवेक जागृत होते ही, श्रद्धा पलटते ही छात्र प्राध्यापकों के घर के चक्कर नहीं काटेंगे, पढ़ेंगे; लिपिक अधिकारियों की गुलामी नहीं करेंगे, काम करेंगे; व्यापारी भी बेईमानी न करेंगे, ईमानदारी से व्यापार करेंगे और मुख्यमंत्री दिल्ली में ही नहीं जमे रहेंगे, अपने प्रान्त में ही रहकर जनता की सेवा करेंगे; उनकी समस्यायें सुनेंगे, समझेंगे, सुलझायेंगे। जिस दिन ऐसा होगा, उस दिन देश का नक्शा बदल जायेगा।

इसीप्रकार जबतक यह आत्मा यह मानता रहेगा कि मैं दूसरों को मारता

हूँ, सुखी-दुःखी करता हूँ या दूसरे मुझे मारते हैं, बचाते हैं, सुखी-दुःखी करते हैं; तबतक दूसरों से राग-द्वेष-मोह भी करता रहेगा।

कर्त्तृत्व के अभिमान में ग्रस्त यह आत्मा या तो दूसरों को डरायेगा, धमकायेगा; उन्हें अपने आधीन रखना चाहेगा; नहीं रहने पर स्वयं खेद-खिन्न होगा, दुःखी होगा, संतप्त होगा और तनावग्रस्त हो जायेगा या फिर पराधीनता की वृत्ति से दूसरों से डरेगा, उनकी चापलूसी करेगा, उनकी गुलामी करेगा, उनके प्रसन्न न होने पर खेद-खिन्न होगा और दीन-हीन होकर तनावग्रस्त हो जायेगा।

पर यदि यह आत्मा आचार्य कुन्दकुन्द के निर्देशानुसार यह स्वीकार करले, यह श्रद्धान करले कि न तो मैं किसी को मार-बचा सकता हूँ और न सुखी-दुःखी ही कर सकता है तथा न अन्य कोई मुझे मार सकता है, न सुखी-दुःखी कर सकता है तो सर्वप्रकार के तनावों से मुक्त हो जायेगा, सहज हो जायेगा, सरल हो जायेगा; सर्वप्रकार से निश्चिन्त हो जायेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि जनसामान्य के सामने इस परमसत्य का उद्घाटन करके आचार्यदेव उनसे क्या अपेक्षा करते हैं ? तात्पर्य यह है कि उनके इस प्रतिपादन का जन-सामान्य को क्या लाभ है ?

आचार्यदेव कहते हैं कि जनसामान्य के सामने इस परमसत्य के उद्घाटन से तो प्रत्येक प्राणी को लाभ ही लाभ है। तनाव की कमी होना भी अपने आप में एक उपलब्धि है, जो इस परमसत्य के समझने से निश्चत रूप से कम होता है। दूसरी बात यह है कि इस जगत के भोले प्राणी अपने भले-बुरे की जिम्मेदारी पड़ोसियों पर डालकर व्यर्थ ही उनसे राग-द्वेष किया करते हैं, यदि वे इस सत्य को हृदयंगम करलें तो उनका पड़ोसियों से वैरभाव निश्चितरूप से कम होगा।

आज जब कोई युवक अपनी जीवनसंगिनी चुनने के उद्देश्य से किसी युवती तो देखने जाता है तो पहली ही झलक में इस निर्णय पर पहुँच जाता है कि संबंध करने योग्य है या नहीं। यद्यपि निर्णय पर पहुँचने में घंटों नहीं लगते,

महीनों तो लगते ही नहीं; तथापि वह अपनी भावना को व्यक्त नहीं करता, यही कहता है कि हाँ-हाँ, सब ठीक है, पर उत्तर घर पहुँच कर वहाँ से देंगे।

क्यों ?

क्योंकि वह अच्छी तरह से जानता है कि यदि वह अभी ही अपनी नापसंदगी व्यक्त कर देगा तो वातावरण बोझिल हो जायेगा, चाय-पानी भी संकट में पड़ जायेगा और पसंदगी व्यक्त कर देने पर पिता को सौदा करने का अवसर नहीं रहेगा; अतः वह चतुराई से काम लेता है।

मान लीजिए कि वह आपके यहाँ लड़की देखकर आपके पड़ौसी के घर भी गया; क्योंकि उसकी उनसे पुरानी जान-पहचान थी, जैसा कि अक्सर होता ही है।

जब उसके घर पहुँचने के महीनों बाद उसके पिता का उत्तर आया कि हमारे लड़के का अभी तीन वर्ष शादी करने का विचार नहीं है तो आप उद्वेलित हो जाते हैं।

अरे भाई ! यदि अभी शादी करने का विचार नहीं था तो फिर लड़की देखने ही क्यों गया था ? पर बात यह है कि भारतीयों का मना करने का तरीका ही यह है और यह ठीक ही है; क्योंकि किसी लड़की को अयोग्य बताकर इन्कार करना अच्छी बात तो नहीं है; अतः समझदार लोग इसीप्रकार का उत्तर देते हैं।

उनका इसप्रकार का उत्तर पाकर आपके चित्त में एक आशंका खड़ी हो जाती है कि लड़के ने लड़की को तो एकदम पसंद कर लिया था, पर बाद में पड़ोस में गया था; हो सकता है कि पड़ोसी ने उसे भड़काया हो, इसीलिए इन्कारी का उत्तर आया है। इसप्रकार की कल्पना करके आप व्यर्थ ही पड़ोसी से द्वेष करने लगते हैं।

मैं यह नहीं कहता कि पड़ोसी ने उसे बरगलाया नहीं होगा; क्योंकि भारत में ऐसे पड़ोसियों की भी कमी नहीं है, गली-गली में ऐसे पड़ोसी मिल जायेंगे; पर यह अवश्य कहना चाहता हूँ कि पड़ोसियों के बरगलाने से कुछ होता नहीं

है। यदि पड़ोसियों के बरगलाने से संबंध रुक जाते होते तो आज एक भी कन्या की शादी सम्भव न होती; क्योंकि बरगलाने वाले पड़ोसियों की कमी नहीं है, पर इसकारण आजतक एक भी कन्या कुंवारी नहीं रही। असली बात यह है कि जिसे स्वयं ही संबंध ठीक नहीं लगता, वे ही बरगलाने वालों के चक्कर में आते हैं; जिसे सोलह आने जंच जाता है, उन पर बरगलाने वालों का कोई असर नहीं होता; क्योंकि सब जीवों के सभी लौकिक कार्य अपनी क्रमबद्धपर्यायानुसार एवं अपने कर्मोदयानुसार ही होते हैं।

पुराणों और इतिहासों में ऐसे हजारों उदाहरण मिल जावेंगे जो लड़का किसी लड़की पर रीझ गया तो माँ-बाप के लाख मना करने पर भी नहीं मानता; यहाँ तक कि राजपाट, धन-सम्पत्ति, घर-परिवार सभी से वंचित क्यों न होना पड़े।

यह सत्य हम सबके ख्याल में अच्छी तरह आ जावे तो व्यर्थ में ही होने वाले अनन्त राग-द्वेषों से बचा जा सकता है। दूसरों के सोचने, कहने और करने से हमारा कुछ भी भला-बुरा नहीं होता, हमारा भला-बुरा पूर्णत: हमारे कर्मानुसार ही होता है।

इसपर यदि कोई कहे कि यदि ऐसा है तो हम पड़ोसियों से राग-द्वेष न करके कर्मों से राग-द्वेष करेंगे; उनसे कहते हैं कि हे भाई ! एक बार तुम पड़ोसियों से राग-द्वेष करना तो छोड़ो, फिर कर्मों से भी राग-द्वेष करना सम्भव न होगा; क्योंकि कर्म भी तो तुम्हारे किए हुये ही हैं, तुमने ही पर पदार्थों से राग-द्वेष करके जो कर्म बाँधे थे, वे ही तो उदय में आकर इष्ट-अनिष्ट रूप से फलते हैं। इसमें कर्मों का क्या दोष है ? दोष तो पूर्णत: तुम्हारा ही है। इस पर यदि तुम कहो कि यदि ऐसा है तो हम स्वयं से राग-द्वेष करेंगे, पर ऐसा नहीं होता; क्योंकि जब बात स्वयं पर आती है तो सब शांत हो जाते हैं।

जब कांच का गिलास दूसरों से फूटता है तो हम बड़बड़ाते हैं, पर जब स्वयं से फूट जाता है तो चुपचाप शांत रह जाते हैं, किसी से कुछ नहीं कहते। इसीप्रकार जब आप यह समझेंगे कि जो भी सुख-दु:ख व अनुकूलता-

प्रतिकूलता प्राप्त हो रही है, वह सब मेरे पूर्वकृत कर्मों का ही परिणाम है तो सहज समताभाव जागृत होगा, शान्ति से सब सहन कर साम्यभाव धारण कर लेंगे।

अतः राग-द्वेष कम करने का सरलतम उपाय अपने सुख-दुःख का कारण अपने में ही खोजना है, मानना है, जानना है।

यह कैसे सम्भव है कि हमारे पाप का उदय हो और हमें कोई सुखी कर दे। इसीप्रकार यह भी कैसे सम्भव है कि हमारे पुण्य का उदय हो और हमें कोई दुःखी करदे। यदि ऐसा होने लग जावे तो फिर स्वयंकृत पाप-पुण्य का क्या महत्त्व रह जायेगा ? उक्त सन्दर्भ में आचार्य अमितिगति का निम्नांकित कथन ध्यान देने योग्य है –

स्वयं कृतं कर्मयदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुट,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥
निजार्जित कर्म विहाय देहिनो,
न कोपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः,
परो ददातीति विमुच्च शेमुषीम्॥

इस जीव के द्वारा पूर्व में जो शुभ और अशुभ कर्म स्वयं किए कहे गये हैं, उनका ही फल उसे वर्तमान में प्राप्त होता है। यह बात पूर्णतः सत्य है, क्योंकि यदि यह माना जाय कि सुख-दुःख दूसरों के द्वारा किये जाते हैं तो फिर स्वयं किए गये सम्पूर्ण कर्म निरर्थक सिद्ध होंगे।

अपने द्वारा किये गये कर्मों को छोड़कर इस जीव को कोई भी कुछ नहीं देता। जो कुछ भी सुख-दुःख इसे प्राप्त होते हैं, वे सब इसके ही शुभाशुभ कर्मों के फल हैं। इसलिए मन को अन्यत्र न भटका कर, अनन्य मन से इस बात का विचार करके पक्का निर्णय करके हे भव्यात्मा ! 'सुख-दुःख दूसरे देते

हैं' – इस विपरीत बुद्धि को छोड़ दो।

यदि हम जीवनभर पाप करते रहें, फिर भी कोई हमें उन पाप कर्मों के फल भोगने से बचाले, दु:खी न होने दे, सुखी करदे तो फिर हम पाप करने से डरेंगे ही क्यों ? बस किसी भी तरह हो, उसे ही प्रसन्न करने में जुटे रहेंगे; क्योंकि सुख-दु:ख का संबंध अपने कर्मों से न रहकर पर की प्रसन्नता पर आधारित हो गया। यह मान्यता तो पाप को प्रोत्साहित करने वाली होने से पाप ही है।

इसीप्रकार यदि हम जीवनभर पुण्य कार्य करें, फिर भी कोई हमें दु:खी करदे तो फिर हम सुखी होने के लिए पुण्य कार्य क्यों करेंगे, बस उसकी ही सेवा करते रहेंगे, किसी भी प्रकार क्यों न हो, उसे ही प्रसन्न रखेंगे।

बुरे कार्य करने में हतोत्साहित एवं अच्छे कार्य करने में प्रोत्साहित तो यह जीव तभी होगा, जबकि उसे इस बात का पूरा भरोसा हो कि बुरे कार्य का बुरा फल और अच्छे कार्य का अच्छा फल निश्चितरूप से भोगना ही होगा।

इसी बात पर व्यंग्य करते हुए किसी कवि ने लिखा है–

अरे जगत में वह ईश्वर क्या कर सकता है इन्साफ।
अरे प्रार्थना की रिश्वत पर कर देता जो माफ॥

यदि इस जगत में कोई ईश्वर है और वह पापियों के बड़े-बड़े पापों को भी, प्रार्थना करने मात्र से पापमुक्त कर देता है तो वह दयासागर भले ही कहला ले, पर न्याय नहीं कर सकता है, न्यायवान नहीं है; क्योंकि उसने अपराधी को दंड न देकर स्वयं की चापलूसी करने मात्र से अपराधमुक्त कर दिया, जो सरासर अन्याय है।

हमने किसी प्राणी को मारा या दु:खी किया तो क्षमा करने का अधिकार भी उसी का है, जिसे हमने कष्ट पहुँचाया है। उसे संतुष्ट किए बिना ईश्वर को किसी को भी क्षमा करने का अधिकार कहाँ से प्राप्त हो गया ? यह क्रिया तो पापों को प्रोत्साहित करनेवाली हुई; क्योंकि फिर कोई पाप करने से डरेगा ही क्यों ? उसके पास तो पापों के फल को बिना भोगे ही बचने का उपाय

विद्यमान है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को लौकिक अनुकूलता एवं प्रतिकूलता अपने-अपने कर्मोदयानुसार ही प्राप्त होती है; उसमें किसी का भी, यहाँ तक कि किसी सर्वशक्तिमान भगवान का भी हस्तक्षेप संभव नहीं और यही न्यायसंगत भी है।

'मैं दूसरों को मारता हूँ या बचाता हूँ अथवा सुखी-दुःखी करता हूँ' – यह मान्यता अभिमान की जननी है और 'दूसरे जीव मुझे मारते हैं, बचाते हैं, सुखी-दुःखी करते हैं' – यह मान्यता दीनता पैदा करती है, भयाक्रांत करती है, अशांत करती है, आकुलता-व्याकुलता पैदा करती है।

अतः यदि हम अभिमान से बचना चाहते हैं, दीनता को समाप्त करना चाहते हैं, आकुलता-व्याकुलता और अशांति से बचना चाहते हैं, निर्भार होना चाहते हैं तो उक्त मिथ्या मान्यता को तिलांजलि दे देना ही श्रेयस्कर है, जड़मूल से उखाड़ फेंकना ही श्रेयस्कर है – सुखी और शांत होने का एकमात्र यही उपाय है। ●

तीर्थंकर भगवान महावीर ने प्रत्येक वस्तु की पूर्ण स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है और यह भी स्पष्ट किया है कि प्रत्येक वस्तु स्वयं परिणमनशील है, उसके परिणमन में परपदार्थ का कोई हस्तक्षेप नहीं है। यहाँतक कि परमपिता परमेश्वर भी उसकी सत्ता का कर्ता-हर्ता नहीं है। जन-जन की ही नहीं, अपितु कण-कण की स्वतंत्र सत्ता की उद्घोषणा तीर्थंकर महावीर की वाणी में हुई है। दूसरों के परिणमन या कार्य में हस्तक्षेप करने की भावना ही मिथ्या, निष्फल और दुःख का कारण है।

– मैं कौन हूँ, पृष्ठ-६०

४

मैं स्वयं भगवान हूँ

जैनदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कहता है कि सभी आत्मा स्वयं परमात्मा हैं। स्वभाव से तो सभी परमात्मा हैं ही; यदि अपने को जानें, पहिचानें और अपने में ही जम जायें, रम जायें तो प्रगटरूप से पर्याय में भी परमात्मा बन सकते हैं।

जब यह कहा जाता है तो लोगों के हृदय में एक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि 'जब सभी परमात्मा हैं' तो 'परमात्मा बन सकते हैं'—इसका क्या अर्थ है? और यदि 'परमात्मा बन सकते हैं'— यह बात सही है तो फिर 'परमात्मा हैं'—इसका कोई अर्थ नहीं रह जाता है; क्योंकि बन सकना और होना—दोनों एकसाथ संभव नहीं हैं।

भाई, इसमें असंभव तो कुछ भी नहीं है; पर ऊपर से देखने पर भगवान होने और हो सकने में कुछ विरोधाभास अवश्य प्रतीत होता है, किन्तु गहराई से विचार करने पर सब बात एकदम स्पष्ट हो जाती है।

एक सेठ था और उसका पाँच वर्ष का एक इकलौता बेटा। बस दो ही प्राणी थे। जब सेठ का अन्तिम समय आ गया तो उसे चिन्ता हुई कि यह छोटा-सा बालक इतनी विशाल सम्पत्ति को कैसे संभालेगा?

अत: उसने लगभग सभी सम्पत्ति बेचकर एक करोड़ रुपये इकट्ठे किये और अपने बालक के नाम पर बैंक में बीस वर्ष के लिए सावधि जमायोजना (फिक्स डिपाजिट) के अन्तर्गत जमा करा दिये। सेठ ने इस रहस्य को गुप्त ही रखा, यहाँ तक कि अपने पुत्र को भी नहीं

बताया, मात्र एक अत्यन्त घनिष्ठ मित्र को इस अनुरोध के साथ बताया कि वह उसके पुत्र को यह बात तबतक न बताये, जबतक कि वह पच्चीस वर्ष का न हो जावे।

पिता के अचानक स्वर्गवास के बाद वह बालक अनाथ हो गया और कुछ दिनों तक तो बची-खुची सम्पत्ति से आजीविका चलाता रहा, पर अन्त में रिक्शा चलाकर पेट भरने लगा। चौराहे पर खड़े होकर जोर-जोर से आवाज लगाता कि दो रुपये में रेलवे स्टेशन, दो रुपये में रेलवे स्टेशन....।

अब मैं आप सबसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि वह रिक्शा चलानेवाला बालक करोड़पति है या नहीं?

क्या कहा?

नहीं।

क्यों?

क्योंकि करोड़पति रिक्शा नहीं चलाते और रिक्शा चलानेवाले करोड़पति नहीं हुआ करते।

अरे भाई, जब वह व्यक्ति ही करोड़पति नहीं होगा, जिसके करोड़ रुपये बैंक में जमा हैं तो फिर और कौन करोड़पति होगा?

पर भाई बात यह है कि उसके करोड़पति होने पर भी हमारा मन उसे करोड़पति मानने को तैयार नहीं होता; क्योंकि रिक्शावाला करोड़पति हो—यह बात हमारे चित्त को सहज स्वीकार नहीं होती। आजतक हमने जिन्हें करोड़पति माना है, उनमें से किसी को भी रिक्शा चलाते नहीं देखा और करोड़पति रिक्शा चलाये—यह हमें अच्छा भी नहीं लगता; क्योंकि हमारा मन ही कुछ इसप्रकार का बन गया है।

'कौन करोड़पति है और कौन नहीं है?'—यह जानने के लिए आजतक कोई किसी की तिजोरी के नोट गिनने तो गया नहीं; यदि

जायेगा भी तो बतायेगा कौन? बस बाहरी ताम-झाम देखकर ही हम किसी को भी करोड़पति मान लेते हैं। दस-पाँच नौकर-चाकर, मुनीम-गुमास्ते और बंगला, मोटरकार, कल-कारखाने देखकर ही हम किसी को भी करोड़पति मान लेते हैं; पर यह कोई नहीं जानता कि जिसे हम करोड़पति समझ रहे हैं, हो सकता है कि वह करोड़ों का कर्जदार हो। बैंक से करोड़ों रुपये उधार लेकर कल-कारखाने खुल जाते हैं और बाहरी ठाठ-बाट देखकर अन्य लोग भी सेठजी के पास पैसे जमा कराने लगते हैं। इसप्रकार गरीबों, विधवाओं, ब्रह्मचारियों के करोड़ों के ठाठ-बाट से हम उसे करोड़पति मान लेते हैं।

इस संभावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि जिसे हम करोड़पति साहूकार मान रहे हैं, वह लोगों के करोड़ों रुपये पचाकर दिवाला निकालने की योजना बना रहा हो।

ठीक यही बात सभी आत्माओं को परमात्मा मानने के सन्दर्भ में भी है। हमारा मन इन चलते-फिरते, खाते-पीते, रोते-गाते चेतन आत्माओं को परमात्मा मानने को तैयार नहीं होता, भगवान मानने को तैयार नहीं होता। हमारा मन कहता है कि यदि हम भगवान होते तो फिर दर-दर की ठोकर क्यों खाते फिरते? अज्ञानांधकार में डूबा हमारा अन्तर बोलता है कि हम भगवान नहीं हैं, हम तो दीन-हीन प्राणी हैं; क्योंकि भगवान दीन-हीन नहीं होते और दीन-हीन भगवान नहीं होते।

अबतक हमने भगवान के नाम पर मन्दिरों में विराजमान उन प्रतिमाओं के ही भगवान के रूप में दर्शन किये हैं, जिनके सामने हजारों लोग मस्तक टेकते हैं, भक्ति करते हैं, पूजा करते हैं; यही कारण है कि हमारा मन डाटे-फटकारे जानेवाले जनसामान्य को भगवान मानने को तैयार नहीं होता। हम सोचते हैं कि ये भी कोई भगवान हो सकते हैं क्या? भगवान तो वे हैं, जिनकी पूजा की जाती है, भक्ति की जाती है। सच बात तो यह है कि हमारा मन ही कुछ ऐसा बन गया है कि

उसे यह स्वीकार नहीं कि कोई दीन-हीन जन भगवान बन जावे। अपने आराध्य को दीन-हीन दशा में देखना भी हमें अच्छा नहीं लगता।

भाई, भगवान भी दो तरह के होते हैं— एक तो वे अरहंत और सिद्ध परमात्मा, जिनकी मूर्तियाँ मन्दिरों में विराजमान हैं और उन मूर्तियों के माध्यम से हम उन मूर्तिमान परमात्मा की उपासना करते हैं, पूजन-भक्ति करते हैं; जिस पथ पर वे चले, उस पथ पर चलने का संकल्प करते हैं, भावना भाते हैं। ये अरहंत और सिद्ध कार्यपरमात्मा कहलाते हैं।

दूसरे, देहदेवल में विराजमान निज भगवान आत्मा भी परमात्मा है, भगवान है; इसे कारणपरमात्मा कहा जाता है।

जो भगवान मूर्तियों के रूप में मन्दिरों में विराजमान हैं; वे हमारे पूज्य हैं, परमपूज्य हैं; अत: हम उनकी पूजा करते हैं, भक्ति करते हैं, गुणानुवाद करते हैं; किन्तु देहदेवल में विराजमान निज भगवान आत्मा श्रद्धेय है, ध्येय है, परमज्ञेय है; अत: निज भगवान को जानना, पहिचानना और उसका ध्यान करना ही उसकी आराधना है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति इस निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही होती है; क्योंकि निश्चय से निज भगवान आत्मा को निज जानना ही सम्यग्ज्ञान है, उसे ही निज मानना, 'यही मैं हूँ'—ऐसी प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है और उसका ही ध्यान करना, उसी में जम जाना, रम जाना, लीन हो जाना सम्यक्चारित्र है।

अष्टद्रव्य से पूजन मन्दिर में विराजमान 'पर-भगवान' की की जाती है और ध्यान शरीररूपी मन्दिर में विराजमान 'निज-भगवान' आत्मा का किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति निज-आत्मा को भगवान मानकर मन्दिर में विराजमान भगवान के समान स्वयं की भी अष्टद्रव्य से पूजन करने लगे तो उसे व्यवहार-विहीन ही माना जायेगा; वह व्यवहारकुशल नहीं, अपितु व्यवहारमूढ़ ही है।

इसीप्रकार यदि कोई व्यक्ति आत्मोपलब्धि के लिए ध्यान भी मन्दिर में विराजमान भगवान का ही करता रहे तो उसे भी विकल्पों की ही उत्पत्ति होती रहेगी, निर्विकल्प आत्मानुभूति कभी नहीं होगी; क्योंकि निर्विकल्प आत्मानुभूति निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही होती है। निर्विकल्प आत्मानुभूति के बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति भी नहीं होगी।—इसप्रकार उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग का आरंभ ही नहीं होगा।

जिसप्रकार वह रिक्शावाला बालक रिक्शा चलाते हुए भी करोड़पति है; उसीप्रकार दीन-हीन हालत में होने पर भी हम सभी स्वभाव से ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान हैं, कारण परमात्मा हैं— यह जानना-मानना उचित ही है।

इस सन्दर्भ में मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि भारत में अभी किसका राज है?

''कांग्रेस का''

''क्या कहा, कांग्रेस का? नहीं भाई! यह ठीक नहीं है; कांग्रेस तो एक पार्टी है, भारत में राज तो जनता-जनार्दन का है; क्योंकि जनता जिसे चुनती है, वही भारत का शासन चलाता है; अत: राज तो जनता-जनार्दन का ही है।''

उक्त सन्दर्भ में जब हम जनता को जनार्दन (भगवान) कहते हैं तो कोई नहीं कहता कि जनता तो जनता है, वह जनार्दन अर्थात् भगवान कैसे हो सकती है? पर जब तात्त्विक चर्चा में यह कहा जाता है कि हम सभी भगवान हैं तो हमारे चित्त में अनेकप्रकार की शंकाएँ-आशंकाएँ खड़ी हो जाती है, पर भाई गहराई से विचार करें तो स्वभाव से तो प्रत्येक आत्मा परमात्मा ही है— इसमें शंका-आशंकाओं को कोई स्थान नहीं है।

प्रश्न : यदि यह बात है तो फिर ये ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा वर्तमान में अनन्त दु:खी क्यों दिखाई दे रहे हैं?

उत्तर : अरे भाई, ये सब भूले हुए भगवान हैं, स्वयं को—स्वयं की सामर्थ्य को भूल गये हैं; इसीकारण सुखस्वभावी होकर भी अनन्तदुखी हो रहे हैं। इनके दुख का मूलकारण स्वयं को नहीं जानना, नहीं पहिचानना ही है। जब ये स्वयं को जानेंगे, पहिचानेंगे एवं स्वयं में ही जम जायेंगे, रम जायेंगे; तब स्वयं ही अनन्तसुखी भी हो जावेंगे।

जिसप्रकार वह रिक्शा चलानेवाला बालक करोड़पति होने पर भी यह नहीं जानता है कि 'मैं स्वयं करोड़पति हूँ'— इसीकारण दरिद्रता का दुख भोग रहा है। यदि उसे यह पता चल जावे कि मैं करोड़पति हूँ, मेरे करोड़ रुपये बैंक में जमा हैं तो उसका जीवन ही परिवर्तित हो जावेगा। उसीप्रकार जबतक यह आत्मा स्वयं के परमात्मस्वरूप को नहीं जानता-पहिचानता है, तभीतक अनन्तदुखी है; जब यह आत्मा अपने परमात्मस्वरूप को भलीभाँति जान लेगा, पहिचान लेगा तो इसके दुख दूर होने में भी देर न लगेगी।

कंगाल के पास करोड़ों का हीरा हो, पर वह उसे काँच का टुकड़ा समझता हो या चमकदार पत्थर मानता हो तो उसकी दरिद्रता जानेवाली नहीं है; पर यदि वह उसकी सही कीमत जान ले तो दरिद्रता एक क्षण भी उसके पास टिक नहीं सकती, उसे विदा होना ही होगा। इसीप्रकार यह आत्मा स्वयं भगवान होने पर भी यह नहीं जानता कि मैं स्वयं भगवान हूँ। यही कारण है कि यह अनन्तकाल से अनन्त दुख उठा रहा है। जिस दिन यह आत्मा यह जान लेगा कि मैं स्वयं भगवान ही हूँ, उस दिन उसके दुख दूर होते देर न लगेगी।

इससे यह बात सहज सिद्ध होती है कि होने से भी अधिक महत्त्व जानकारी होने का है, ज्ञान होने का है।

होने से क्या होता है? होने को तो यह आत्मा अनादि से ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा ही है, पर इस बात की जानकारी न

होने से, ज्ञान न होने से ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान होने का कोई लाभ इसे प्राप्त नहीं हो रहा है।

होने को तो वह रिक्शा चलानेवाला बालक भी गर्भश्रीमन्त है, जन्म से ही करोड़पति है; पर पता न होने से दो रोटियों की खातिर उसे रिक्शा चलाना पड़ रहा है। यही कारण है कि जिनागम में सम्यग्ज्ञान के गीत दिल खोलकर गाये हैं। कहा गया है कि—

"ज्ञान समान न आन जगत में सुख कौ कारण।
इह परमामृत जन्म-जरा-मृतु रोग निवारण॥[१]

इस जगत में ज्ञान के समान अन्य कोई भी पदार्थ सुख देनेवाला नहीं है। यह ज्ञान जन्म, जरा और मृत्यु रूपी रोग को दूर करने के लिए परम-अमृत है, सर्वोत्कृष्ट औषधि है।"

और भी देखिए—

"जे पूरब शिव गये जाहिं अरु आगे जैहैं।
सो सब महिमा ज्ञानतनी मुनीनाथ कहै हैं॥[२]

आजतक जितने भी जीव अनन्त सुखी हुए हैं अर्थात् मोक्ष गये हैं या जा रहे हैं अथवा भविष्य में जावेंगे, वह सब ज्ञान का ही प्रताप है— ऐसा मुनियों के नाथ जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।"

सम्यग्ज्ञान की तो अनन्त महिमा है ही, पर सम्यग्दर्शन की महिमा जिनागम में उससे भी अधिक बताई गई है, गाई गई है।

क्यों और कैसे?

मानलो रिक्शा चलानेवाला वह करोड़पति बालक अब २५ वर्ष का युवक हो गया है। उसके नाम जमा करोड़ रुपयों की अवधि समाप्त हो गई है, फिर भी कोई व्यक्ति बैंक से रुपये लेने नहीं आया। अत:

---

१. पण्डित दौलतराम : छहढाला, चतुर्थ ढाल, छन्द ४
२. वही, चतुर्थ ढाल, छन्द ८

बैंक ने समाचार-पत्रों में सूचना प्रकाशित कराई कि अमुक व्यक्ति के इतने रुपये बैंक में जमा हैं, वह एक माह के भीतर आकर ले जावे। यदि कोई व्यक्ति एक माह के भीतर नहीं आया तो लावारिस समझकर रुपये सरकारी खजाने में जमा करा दिये जावेंगे।

उस समाचार को उस युवक ने भी पढ़ा और उसका हृदय प्रफुल्लित हो उठा, पर उसकी वह प्रसन्नता क्षणिक साबित हुई; क्योंकि अगले ही क्षण उसके हृदय में संशय के बीज अंकुरित हो गये।

वह सोचने लगा कि मेरे नाम इतने रुपये बैंक में कैसे हो सकते हैं? मैंने तो कभी जमा कराये ही नहीं। मेरा तो किसी बैंक में कोई खाता भी नहीं है। फिर भी उसने वह समाचार दुबारा बारीकी से पढ़ा तो पाया की वह नाम तो उसी का है, पिता के नाम के स्थान पर भी उसी के पिता का नाम अंकित है; कुछ आशा जागृत हुई, किन्तु अगले क्षण ही उसे विचार आया कि हो सकता है, इसी नाम का कोई दूसरा व्यक्ति हो और सहज संयोग से ही उसके पिता का नाम भी यही हो। इसप्रकार वह फिर शंकाशील हो उठा।

इसप्रकार जानकर भी उसे प्रतीति नहीं हुई, इस बात का विश्वास जागृत नहीं हुआ कि ये रुपये मेरे ही हैं। अत: जान लेने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ। इससे सिद्ध होता है कि प्रतीति बिना, विश्वास बिना जान लेने मात्र से भी कोई लाभ नहीं होता। अत: ज्ञान से भी अधिक महत्त्व श्रद्धान का है, विश्वास का है, प्रतीति का है।

इसीप्रकार शास्त्रों में पढ़कर हम सब यह जान तो लेते हैं कि आत्मा ही परमात्मा है (अप्पा सो परमप्पा), पर अन्तर में यह विश्वास जागृत नहीं होता कि मैं स्वयं ही परमात्मस्वरूप हूँ, परमात्मा हूँ, भगवान हूँ। यही कारण है कि यह बात जान लेने पर भी कि मैं स्वयं परमात्मा हूँ, सम्यक्श्रद्धान बिना दुख का अन्त नहीं होता, चतुर्गतिभ्रमण समाप्त नहीं होता, सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं होती।

समाचार-पत्र में उक्त समाचार पढ़कर वह युवक अपने साथियों को भी बताता है। उन्हें समाचार दिखाकर कहता है कि "देखो, मैं करोड़पति हूँ अब तुम मुझे गरीब रिक्शेवाला नहीं समझना।" — इसप्रकार कहकर वह अपना और अपने साथियों का मनोरंजन करता है, एकप्रकार से स्वयं अपनी हँसी उड़ाता है।

इसीप्रकार शास्त्रों में से पढ़-पढ़कर हम स्वयं अपने साथियों को भी सुनाते हैं। कहते हैं—'देखो हम सभी स्वयं भगवान हैं, दीन-हीन मनुष्य नहीं।'—इसप्रकार की आध्यात्मिक चर्चाओं द्वारा हम स्वयं का और समाज का मनोरंजन तो करते हैं, पर सम्यक्श्रद्धान के अभाव में भगवान होने का सही लाभ प्राप्त नहीं होता, आत्मानुभूति नहीं होती, सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं होती, आकुलता समाप्त नहीं होती।

इसप्रकार अज्ञानीजनों की आध्यात्मिक चर्चा भी आत्मानुभूति के बिना, सम्यग्ज्ञान के बिना, सम्यक्श्रद्धान के बिना मात्र बौद्धिक व्यायाम बनकर रह जाती है।

समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो जाने के उपरान्त भी जब कोई व्यक्ति पैसे लेने बैंक में नहीं आया तो बैंकवालों ने रेडियो स्टेशन से घोषणा कराई। रेडियो स्टेशन को भारत में आकाशवाणी कहते हैं। अत: आकाशवाणी हुई कि अमुक व्यक्ति के इतने रुपये बैंक में जमा हैं, वह एक माह के भीतर ले जावे, अन्यथा लावारिस समझकर सरकारी खजाने में जमा करा दिये जावेंगे।

आकाशवाणी की उस घोषणा को रिक्शे पर बैठे-बैठे उसने भी सुनी, अपने साथियों को भी सुनाई, पर विश्वास के अभाव में कोई लाभ नहीं हुआ। इसीप्रकार अनेक प्रवक्ताओं से इस बात को सुनकर भी कि हम सभी स्वयं भगवान हैं, विश्वास के अभाव में बात वहीं की वहीं रही। जीवनभर जिनवाणी सुनकर भी, पढ़कर भी, आध्यात्मिक चर्चायें करके भी आत्मानुभूति से अछूते रह गये।

समाचार-पत्रों में प्रकाशित एवं आकाशवाणी से प्रसारित उक्त समाचार की ओर जब स्वर्गीय सेठजी के उन अभिन्न मित्र का ध्यान गया, जिन्हें उन्होंने मरते समय उक्त रहस्य की जानकारी दी थी, तो वे तत्काल उस युवक के पास पहुँचे और बोले— "बेटा! तुम रिक्शा क्यों चलाते हो?"

उसने उत्तर दिया— "यदि रिक्शा न चलायें तो खायेंगे क्या?"

उन्होंने समझाते हुए कहा— "भाई तुम तो करोड़पति हो, तुम्हारे तो करोड़ों रुपये बैंक में जमा है।"

अत्यन्त गमगीन होते हुए युवक कहने लगा—

"चाचाजी, आपसे ऐसी आशा नहीं थी; सारी दुनिया तो हमारा मजाक उड़ा ही रही है, पर आप तो बुजुर्ग हैं, मेरे पिता के बराबर हैं; आप भी....।"

वह अपनी बात समाप्त ही न कर पाया था कि उसके माथे पर हाथ फेरते हुए अत्यन्त स्नेह से वे कहने लगे—

"नहीं भाई, मैं तेरी मजाक नहीं उड़ा रहा हूँ। तू सचमुच ही करोड़पति है। जो नाम समाचार-पत्रों में छप रहा है, वह तेरा ही नाम है।"

अत्यन्त विनयपूर्वक वह बोला— "ऐसी बात कहकर आप मेरे चित्त को व्यर्थ ही अशान्त न करें। मैं मेहनत-मजदूरी करके दो रोटियाँ पैदा करता हूँ और आराम से जिन्दगी बसर कर रहा हूँ। मेरी महत्त्वाकांक्षा को जगाकर आप मेरे चित्त को क्यों उद्वेलित कर रहे हैं। मैंने तो कभी कोई रुपये बैंक में जमा कराये ही नहीं। अत: मेरे रुपये बैंक में जमा कैसे हो सकते हैं?"

अत्यन्त गद्‌गद् होते हुए वे कहने लगे—

"भाई तुम्हें पैसे जमा कराने की क्या आवश्यकता थी? तुम्हारे पिताजी स्वयं बीस वर्ष पहले तुम्हारे नाम एक करोड़ रुपये बैंक में जमा

करा गये हैं, जो अब ब्याज सहित दश करोड़ से भी अधिक हो गये होंगे। मरते समय यह बात वे मुझे बता गये थे।''

यह बात सुनकर वह एकदम उत्तेजित हो गया। थोड़ा-सा विश्वास उत्पन्न होते ही उसमें करोड़पतियों के लक्षण उभरने लगे। वह एकदम गर्म होते हुए बोला—

''यदि यह बात सत्य है तो आपने अभीतक हमें क्यों नहीं बताया?''

वे समझाते हुए कहने लगे — ''उत्तेजित क्यों होते हो? अब तो बता दिया। पीछे की जाने दो, अब आगे की सोचो।''

''पीछे की क्यों जाने दो? हमारे करोड़ों रुपये बैंक में पड़े रहे और हम दो रोटियों के लिये मुँहताज हो गये। हम रिक्शा चलाते रहे और आप देखते रहे। यह कोई साधारण बात नहीं है, जो ऐसे ही छोड़ दी जावे; आपको इसका जवाब देना ही होगा।''

''तुम्हारे पिताजी मना कर गये थे।''

''आखिर क्यों?''

''इसलिए कि बीस वर्ष पहले तुम्हें रुपये तो मिल नहीं सकते थे। पता चलने पर तुम रिक्शा भी न चला पाते और भूखों मर जाते।''

''पर उन्होंने ऐसा किया ही क्यों?''

''इसलिए कि नाबालिगी की अवस्था में कहीं तुम यह सम्पत्ति बर्बाद न कर दो और फिर जीवनभर के लिए कंगाल हो जावो। समझदार हो जाने पर तुम्हें ब्याज सहित आठ-दश करोड़ रुपये मिल जावें और तुम आराम से रह सको। तुम्हारे पिताजी ने यह सब तुम्हारे हित में ही किया है। अत: उत्तेजना में समय खराब मत करो। आगे की सोचो।''

इसप्रकार सम्पत्ति सम्बन्धी सच्ची जानकारी और उस पर पूरा विश्वास जागृत हो जाने पर उस रिक्शेवाले युवक का मानस एकदम

बदल जाता है, दरिद्रता के साथ का एकत्व टूट जाता है एवं 'मैं करोड़पति हूँ'— ऐसा गौरव का भाव जागृत हो जाता है, आजीविका की चिन्ता न मालूम कहाँ चली जाती है, चेहरे पर सम्पन्नता का भाव स्पष्ट झलकने लगता है।

इसीप्रकार शास्त्रों के पठन, प्रवचनों के श्रवण और अनेक युक्तियों के अवलम्बन से ज्ञान में बात स्पष्ट हो जाने पर भी अज्ञानीजनों को इसप्रकार का श्रद्धान उदित नहीं होता कि ज्ञान का घनपिण्ड, आनन्द का रसकन्द, शक्तियों का संग्रहालय, अनन्त गुणों का गोदाम भगवान आत्मा मैं स्वयं ही हूँ। यही कारण है कि श्रद्धान के अभाव में उक्त ज्ञान का कोई लाभ प्राप्त नहीं होता।

काललब्धि आने पर किसी आसन्नभव्य जीव को परमभाग्योदय से किसी आत्मानुभवी ज्ञानी धर्मात्मा का सहज समागम प्राप्त होता है और वह ज्ञानी धर्मात्मा उसे अत्यन्त वात्सल्यभाव से समझाता है कि हे आत्मन्! तू स्वयं भगवान है, तू अपनी शक्तियों को पहिचान, पर्याय की पामरता का विचार मत कर, स्वभाव के सामर्थ्य को देख, सम्पूर्ण जगत पर से दृष्टि हटा और स्वयं में ही समा जा, उपयोग को यहाँ-वहाँ न भटका, अन्तर में जा, तुझे निज परमात्मा के दर्शन होंगे।

ज्ञानी गुरु की करुणा-विगलित वाणी सुनकर वह निकट भव्य जीव कहता है—

"प्रभो! यह आप क्या कह रहे हैं, मैं भगवान कैसे हो सकता हूँ? मैंने तो जिनागम में बताये भगवान बनने के उपाय का अनुसरण आजतक किया ही नहीं है। न जप किया, न तप किया, न व्रत पाले और न स्वयं को जाना-पहिचाना — ऐसी अज्ञानी-असंयत दशा में रहते हुए मैं भगवान कैसे बन सकता हूँ?"

अत्यन्त स्नेहपूर्वक समझाते हुए ज्ञानी धर्मात्मा कहते हैं—"भाई, ये बननेवाले भगवान की बात नहीं है, यह तो बने-बनाये भगवान की बात

है। स्वभाव की अपेक्षा तुझे भगवान बनना नहीं है, अपितु स्वभाव से तो तू बना-बनाया भगवान ही है।—ऐसा जानना-मानना और अपने में ही जमजाना, रमजाना पर्याय में भगवान बनने का उपाय है। तू एकबार सच्चे दिल से अन्तर की गहराई से इस बात को स्वीकार तो कर; अन्तर की स्वीकृति आते ही तेरी दृष्टि परपदार्थों से हटकर सहज ही स्वभाव-सन्मुख होगी, ज्ञान भी अन्तरोन्मुख होगा और तू अन्तर में ही समा जायगा, लीन हो जायगा, समाधिस्थ हो जायगा। ऐसा होने पर तेरे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ेगा कि तू निहाल हो जावेगा, कृतकृत्य हो जावेगा। एकबार ऐसा स्वीकार करके तो देख।''

''यदि ऐसी बात है तो आजतक किसी ने क्यों नहीं बताया?''

''जाने भी दे, इस बात को, आगे की सोच।''

''क्यों जाने दें? इस बात को जाने बिना हम अनन्त दु:ख उठाते रहे, स्वयं भगवान होकर भी भोगों के भिखारी बने रहे और किसी ने बताया तक नहीं।''

''अरे भाई, जगत को पता हो तो बताये और ज्ञानी तो बताते ही रहते हैं, पर कौन सुनता है उनकी; काललब्धि आये बिना किसी का ध्यान ही नहीं जाता इस ओर। सुन भी लेते हैं तो इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते हैं, ध्यान नहीं देते। समय से पूर्व बताने से किसी को कोई लाभ भी नहीं होता। अत: अब जाने भी दो पुरानी बातों को, आगे की सोचो। स्वयं के परमात्मस्वरूप को पहिचानो, स्वयं के परमात्मस्वरूप को जानो और स्वयं में समा जावो। सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

कहते-कहते गुरु स्वयं में समा जाते हैं और वह भव्यात्मा भी स्वयं में समा जाता है। जब उपयोग बाहर आता है तो उसके चेहरे पर अपूर्व शान्ति होती है, संसार की थकान पूर्णत: उतर चुकी होती है, पर्याय की पामरता का कोई चिह्न चेहरे पर नहीं होता, स्वभाव की सामर्थ्य का गौरव अवश्य झलकता है।

आत्मज्ञान, श्रद्धान एवं आंशिक लीनता से आरम्भ मुक्ति के मार्ग पर आरूढ़ वह भव्यात्मा चक्रवर्ती की सम्पदा और इन्द्रों जैसे भोगों को भी तुच्छ समझने लगता है।

कहा भी है —

''चक्रवर्ती की सम्पदा अर इन्द्र सारिखे भोग।
कागवीट सम गिनत हैं सम्यग्दृष्टि लोग॥''

पिता के मित्र रिक्शेवाले युवक से यह बात रिक्शा स्टेण्ड पर ही कर रहे थे। उनकी यह सब बात रिक्शे पर बैठे-बैठे ही हो रही थी। इतने में एक सवारी ने आवाज दी—

''ऐ रिक्शेवाले! स्टेशन चलेगा?''

उसने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया—''नहीं।''

''क्यों? चलो न भाई, जरा जल्दी जाना है, दो रुपये की जगह पाँच रुपये ले लेना, पर चलो, जल्दी चलो।''

''नहीं; नहीं जाना, एक बार कह दिया न।''

''कह दिया पर.....''

उसकी बात जाने दो, अब मैं आपसे ही पूछता हूँ कि क्या वह अब भी सवारी ले जायेगा? यदि ले जायेगा तो कितने में? दस रुपये में, बीस रुपये में.....?

क्या कहा, कितने ही रुपये दो, पर अब वह रिक्शा नहीं चलायेगा।

''क्यों?''

''क्योंकि अब वह करोड़पति हो गया है।''

''अरे भाई, अभी तो मात्र पता ही चला है, अभी रुपये हाथ में कहाँ आये हैं?''

''कुछ भी हो, अब उससे रिक्शा नहीं चलेगा; क्योंकि करोड़पति रिक्शा नहीं चलाया करते।''

इसीप्रकार जब किसी व्यक्ति को आत्मानुभवपूर्वक सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हो जाता है, तब उसके आचरण में भी अन्तर आ ही जाता है। यह बात अलग है कि वह तत्काल पूर्ण संयमी या देश संयमी नहीं हो जाता, फिर भी उसके जीवन में अन्याय, अभक्ष्य एवं मिथ्यात्व पोषक क्रियाएँ नहीं रहती हैं। उसका जीवन शुद्ध सात्विक हो जाता है, उससे हीन काम नहीं होते।

वह युवक सवारी लेकर स्टेशन तो नहीं जावेगा, पर उस सेठ के घर रिक्शा वापिस देने और किराया देने तो जावेगा ही, जिसका रिक्शा वह किराये पर लाया था। प्रतिदिन शाम को रिक्शा और किराये के दस रुपये दे आने पर ही उसे अगले दिन रिक्शा किराये पर मिलता था। यदि कभी रिक्शा और किराया देने न जा पावे तो सेठ घर पर आ धमकता था, मुहल्लेवालों के सामने उसकी इज्जत उतार देता था।

आज वह सेठ के घर रिक्शा देने भी न जावेगा। उसे वहीं ऐसा ही छोड़कर चल देगा। तब फिर क्या वह सेठ उसके घर जायेगा?

हाँ जायेगा, अवश्य जायेगा; पर रिक्शा लेने नहीं, रुपये लेने नहीं; अपनी लड़की का रिश्ता लेकर जायेगा; क्योंकि यह पता चल जाने पर कि इसके करोड़ों रुपये बैंक में जमा हैं, कौन उसे अपनी कन्या देकर कृतार्थ न होना चाहेगा?

इसीप्रकार किसी व्यक्ति को आत्मानुभव होता है तो उसके अन्तर की हीनभावना तो समाप्त हो ही जाती है, पर सातिशय पुण्य के प्रताप से लोक में भी उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है, लोक भी उसके सद्व्यवहार से प्रभावित होता है। ऐसा सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

ज्ञात हो जाने पर भी जिसप्रकार कोई असभ्य व्यक्ति उस रिक्शेवाले से रिक्शेवालों जैसा व्यवहार भी कदाचित् कर सकता है; उसीप्रकार

कुछ अज्ञानीजन उन ज्ञानी धर्मात्माओं से भी कदाचित् असद्व्यवहार कर सकते हैं, करते भी देखे जाते हैं; पर यह बहुत कम होता है।

यद्यपि अभी वह वही मैला-कुचेला फटा कुर्ता पहने है, मकान भी टूटा-फूटा ही है; क्योंकि ये सब तो तब बदलेंगे, जब रुपये हाथ में आ जावेंगे। कपड़े और मकान श्रद्धा-ज्ञान से नहीं बदले जाते, उनके लिए तो पैसे चाहिए, पैसे; तथापि उसके चित्त में आप कहीं भी दरिद्रता की हीनभावना का नामोनिशान भी नहीं पायेंगे।

उसीप्रकार जीवन तो सम्यक्चारित्र होने पर बदलेगा, अभी तो असंयमरूप व्यवहार ही ज्ञानी धर्मात्मा के देखा जाता है, पर उनके चित्त में रंचमात्र भी हीनभावना नहीं रहती, वे स्वयं को भगवान ही अनुभव करते हैं।

जिसप्रकार उस युवक के श्रद्धा और ज्ञान में तो यह बात एक क्षण में आ गई कि मैं करोड़पति हूँ; पर करोड़पतियों जैसे रहन-सहन में अभी वर्षों लग सकते हैं। पैसा हाथ में आ जाय, तब मकान बनना आरम्भ हो, उसमें भी समय तो लगेगा ही। उस युवक को अपना जीवन-स्तर उठाने की जल्दी तो है, पर अधीरता नहीं; क्योंकि जब पता चल गया है तो रुपये भी अब मिलेंगे ही; आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों; बरसों लगनेवाले नहीं हैं।

उसीप्रकार श्रद्धा और ज्ञान तो क्षणभर में परिवर्तित हो जाते हैं, पर जीवन में संयम आने में समय लग सकता है। संयम धारण करने की जल्दी तो प्रत्येक ज्ञानी धर्मात्मा को रहती ही है, पर अधीरता नहीं होती; क्योंकि जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान और संयम की रुचि (अंश) जग गई है तो इसी भव में, इस भव में नहीं तो अगले भव में, उसमें नहीं तो उससे अगले भव में संयम भी आयेगा ही; अनन्तकाल यों ही जानेवाला नहीं है।

अत: हम सभी का यह परम पावन कर्त्तव्य है कि हम सब स्वयं को सही रूप में जानें, सही रूप में पहिचानें, इस बात का गहराई से

अनुभव करें कि स्वभाव से तो हम सभी सदा से ही भगवान ही हैं— इसमें शंका-आशंका के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। रही बात पर्याय की पामरता की, सो जब हम अपने परमात्मस्वरूप का सम्यग्ज्ञान कर उसी में अपनापन स्थापित करेंगे, अपने ज्ञानोपयोग (प्रगटज्ञान) को भी सम्पूर्णत: उसी में लगा देंगे, स्थापित कर देंगे और उसी में लीन हो जावेंगे, जम जावेंगे, रम जावेंगे, समा जावेंगे, समाधिस्थ हो जावेंगे तो पर्याय में भी परमात्मा (अरहंत-सिद्ध) बनते देर न लगेगी।

अरे भाई! जैनदर्शन के इस अद्भुत परमसत्य को एकबार अन्तर की गहराई से स्वीकार तो करो कि स्वभाव से हम सभी भगवान ही हैं। पर और पर्याय से अपनापन तोड़कर एकबार द्रव्य-स्वभाव में अपनापन स्थापित तो करो, फिर देखना अन्तर में कैसी क्रान्ति होती है, कैसी अद्भुत और अपूर्व शान्ति उपलब्ध होती है, अतीन्द्रिय आनन्द का कैसा झरना झरता है।

इस अद्भुत सत्य का आनन्द मात्र बातों से आनेवाला नहीं है, अन्तर में इस परमसत्य के साक्षात्कार से ही अतीन्द्रिय आनन्द का दरिया उमड़ेगा।

उमड़ेगा, अवश्य उमड़ेगा; एकबार सच्चे हृदय से सम्पूर्णत: समर्पित होकर निज भगवान आत्मा की आराधना तो करो, फिर देखना क्या होता है? बातों में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता है। अत: यह मंगलभावना भाते हुए विराम लेता हूँ कि सभी आत्माएँ स्वयं के परमात्मस्वरूप को जानकर, पहिचानकर स्वयं में ही जमकर, रमकर अनन्त सुख-शान्ति को शीघ्र ही प्राप्त करें। ■

पर्याय की पामरता के नाश का उपाय पर्याय की पामरता का चिन्तन नहीं; स्वभाव के सामर्थ्य का श्रद्धान है, ज्ञान है। स्वस्वभाव के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान का नाम ही धर्म है; धर्म की साधना है, आराधना है, उपासना है, धर्म की भावना है, धर्मभावना है।

- बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-१७३

५

अपने में अपनापन

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही सच्चा मोक्षमार्ग है, अनादिकालीन अनंत दु:ख को दूर करने का एकमात्र उपाय है। अत: हमें इन्हें समझने में पूरी शक्ति लगाना चाहिए, इन्हें प्राप्त करने के लिए प्राणपण से जुट जाना चाहिए।

इनके स्वरूप को समझने के लिए हमें जैनदर्शन में प्रतिपादित तत्त्वव्यवस्था को समझना होगा; क्योंकि तत्त्वार्थ के श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। तत्त्वार्थ सात होते हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

जीवतत्त्व अनादि-निधन द्रव्यरूप भगवान है और मोक्षतत्त्व सादि प्रगट दशारूप भगवान है। भगवान स्वभावी आत्मा का प्रकटरूप से पर्याय में भगवान बनना ही मोक्ष प्राप्त करना है। यही कारण है कि जैनदर्शन कहता है कि स्वभाव से तो हम सभी भगवान हैं ही, पर यदि अपने को जानें, पहिचानें और अपने में ही जम जायें, रम जायें तो प्रकटरूप से पर्याय में भी भगवान बन सकते हैं।

अपने को पहिचानना, जानना ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है तथा अपने में ही जम जाना, रम जाना सम्यक्चारित्र है। इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकरूपता ही मोक्षमार्ग है, सुखी होने का सच्चा उपाय है।

यद्यपि यह भगवान आत्मा अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है, अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है; तथापि मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जिन गुणों की चर्चा जिनागम में सर्वाधिक प्राप्त है, उनमें श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुण प्रमुख हैं।

इनमें ज्ञान गुण का कार्य सत्यासत्य का निर्णय करना है, श्रद्धा गुण का कार्य अपने और पराये की पहिचान कर अपने में अपनापन स्थापित करना है और अच्छे-बुरे का निर्णय हम अपने राग के अनुसार करते हैं। ध्यान रहे, राग चारित्र गुण की विकारी पर्याय है।

इस जगत में कोई भी वस्तु अच्छी-बुरी नहीं है। उनमें अच्छे-बुरे का निर्णय हम अपने रागानुसार ही करते हैं। रंग न गोरा अच्छा होता है न साँवला, जिसके मन जो भा जाय, उसके लिए वही अच्छा है। हम गोरे रंग के लिए तरसते हैं और गोरी चमड़ी वाले यूरोपियन घंटों नंगे बदन धूप में इसलिए पड़े रहते हैं कि उनका रंग थोड़ा-बहुत हम जैसा साँवला हो जावे।

दूसरों की बात जाने भी दें, हम स्वयं अपना चेहरा गोरा और बाल काले पसन्द करते हैं। जरा विचार तो करो, यदि चेहरे जैसे बाल और बालों जैसा चेहरा हो जावे तो क्या हो? तात्पर्य यह है कि जगत में कुछ भी अच्छा-बुरा नहीं है। अच्छे-बुरे की कल्पना हम स्वयं अपने रागानुसार ही करते हैं।

इस जगत में न अच्छे की कीमत है न सच्चे की, अपनापन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि सर्वस्व-समर्पण अपनों के प्रति ही होता है। यही कारण है कि मुक्ति के मार्ग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण श्रद्धा गुण है, श्रद्धा गुण की निर्मल पर्याय सम्यग्दर्शन है।

पर और पर्याय से भिन्न निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करना ही सम्यग्दर्शन है, निज भगवान आत्मा को निज जानना ही सम्यग्ज्ञान है और निज भगवान आत्मा में ही जमना-रमना सम्यक्-चारित्र है।

यहाँ आप कह सकते हैं कि विद्वानों का काम तो सच्चाई और अच्छाई की कीमत बताना है और आप कह रहे हैं कि इस जगत में न सच्चाई की कीमत है और न अच्छाई की।

भाई, हम क्या कह रहे हैं, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

एक करोड़पति सेठ था। उसका एक इकलौता बेटा था।

"कैसा?"

"जैसे कि करोड़पतियों के होते हैं, सातों व्यसनों में पारंगत।"

उसके पड़ोस में एक गरीब व्यक्ति रहता था। उसका भी एक बेटा था।

"कैसा?"

"जैसा कि सेठ अपने बेटे को चाहता था, सर्वगुणसम्पन्न, पढ़ने-लिखने में होशियार, व्यसनों से दूर, सदाचारी, विनयशील।"

सेठ रोज सुबह उठता तो पड़ोसी के बेटे की भगवान जैसी स्तुति करता और अपने बेटे को हजार गालियाँ देता। कहता—"देखो वह कितना होशियार है, प्रतिदिन प्रातःकाल मन्दिर जाता है, समय पर सोकर उठता है और एक तू है कि अभी तक सो रहा है। अरे नालायक मेरे घर में पैदा हो गया है, सो गुलछर्रे उड़ा रहा है, कहीं और पैदा होता तो भूखों मरता, भूखों..... अरे अभागे .....।"

बीच में ही बात काटते हुए पुत्र कहता—"पिताजी, और चाहे जो कुछ कहो, पर अभागा नहीं कह सकते।"

"क्यों?"

"क्योंकि, जिसे आप जैसा कमाऊ बाप मिला हो, वह अभागा कैसे हो सकता है? अभागे तो आप हैं, जिसे मुझ जैसा गमाऊ बेटा मिला है।"

एक दिन पड़ौसी का बेटा स्कूल नहीं गया। उसे घर पर देखकर सेठ ने कहा—"बेटा! आज स्कूल क्यों नहीं गये?"

बच्चे ने उत्तर दिया—"मास्टरजी कहते हैं कि स्कूल में ड्रेस पहिनकर आओ और पुस्तकें लेकर आओ। मैं पापा से कहता हूँ तो

उत्तर मिलता है कि कल ला देंगे, पर उनका कल कभी आता ही नहीं हैं, आज एक माह हो गया। अत: आज मैं स्कूल ही नहीं गया हूँ।''

पुचकारते हुए सेठ बोला—''बेटा चिन्ता की कोई बात नहीं। अपना वो नालायक पप्पू है न। वह हर माह नई ड्रेस सिलाता है और पुरानी फेंक देता है। पुस्तकें भी हर माह फाड़ता है और नई खरीद लाता है। बहुत-सी ड्रेसें और पुस्तकें पड़ी हैं। ले जावो।''

अब जरा विचार कीजिए, सेठ जिसकी भगवान जैसी स्तुति करता है, उसे अपने नालायक बेटे के उतारन के कपड़े और फटी पुस्तकें देने का भाव आता है और अपने उस नालायक बेटे को करोड़ों की सम्पत्ति दे जाने का पक्का विचार है। कभी स्वप्न में भी यह विचार नहीं आया कि थोड़ी-बहुत किसी और को भी दे दूँ।

अब आप ही बताइये कि जगत में अपने की कीमत है या अच्छे की, सच्चे की? अच्छा और सच्चा तो पड़ौसी का बेटा है, पर वह अपना नहीं; अत: उसके प्रति राग भी सीमित ही है, असीम नहीं। अपना बेटा यद्यपि अच्छा भी नहीं है, सच्चा भी नहीं है; पर अपना है; अपना होने से उससे राग भी असीम है, अनन्त है।

इससे सिद्ध होता है कि अपनापन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

आजतक इस आत्मा ने देहादि पर-पदार्थों में ही अपनापन मान रखा है। अत: उन्हीं की सेवा में सम्पूर्णत: समर्पित है। निज भगवान आत्मा में एक क्षण को भी अपनापन नहीं आया है; यही कारण है कि उसकी अनन्त उपेक्षा हो रही है। देह की संभाल में हम चौबीसों घंटे समर्पित हैं और भगवान आत्मा के लिए हमारे पास सही मायनों में एक क्षण भी नहीं है। भगवान आत्मा अनन्त उपेक्षा का शिकार होकर सोतेला बेटा बनकर रह गया है।

हम इस जड़ नश्वर शरीर के प्रति जितने सतर्क रहते हैं कि आत्मा के प्रति हमारी सतर्कता उसके सहस्त्रांश भी दिखाई नहीं देती।

यदि यह जड़ शरीर अस्वस्थ हो जावे तो हम डॉक्टर के पास दौड़े-दौड़े जाते हैं; जो वह कहता है, उसे अक्षरश: स्वीकार करते हैं; जैसा वह कहता है, वैसे ही चलने को निरन्तर तत्पर रहते हैं; उससे किसी प्रकार का तर्क-वितर्क नहीं करते। यदि वह कहता है कि तुम्हें कैंसर है तो बिना मीन-मेख किये स्वीकार कर लेते हैं। वह कहे ऑपरेशन अतिशीघ्र होना चाहिए और एक लाख रुपये खर्च होंगे, तो हम कुछ भी आना-कानी नहीं करते, मकान बेचकर भी भरपूर सीजन के समय ऑपरेशन कराने को तैयार रहते हैं। डॉक्टर की भरपूर विनय करते हैं, लाखों रुपये देकर भी उनका आजीवन एहसान मानते हैं। पर जब आत्मा का डॉक्टर बताता है कि आपको मिथ्यात्व का भंयकर कैंसर हो गया है, उसका शीघ्र इलाज होना चाहिए तो उसकी बात पर एक तो हम ध्यान ही नहीं देते और देते भी हैं तो हजार बहाने बनाते हैं। प्रवचन का समय अनुकूल नहीं है, हम बहुत दूर रहते हैं, काम के दिनों (वीकडेज) में कैसे आ सकते हैं? न मालूम कितने बहाने खड़े कर देते हैं।

आखिर शरीर के इलाज की इतनी अपेक्षा और आत्मा के इलाज की इतनी उपेक्षा क्यों? इसका एकमात्र कारण शरीर में अपनापन और भगवान आत्मा में परायापन ही तो है। जबतक शरीर से अपनापन टूटेगा नहीं और भगवान आत्मा में अपनापन आएगा नहीं, तबतक शरीर की उपेक्षा और भगवान आत्मा के प्रति सर्वस्व समर्पण संभव नहीं है। सर्वस्व समर्पण के बिना आत्मदर्शन-सम्यग्दर्शन संभव नहीं है। यदि हमें आत्मदर्शन करना है, सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है तो देह के प्रति एकत्व तोड़ना ही होगा, आत्मा में एकत्व स्थापित करना ही होगा।

देह से भिन्नता एवं आत्मा में अपनापन स्थापित करने के लिए देह की मलिनता और आत्मा की महानता के गीत गाने से काम नहीं चलेगा, देह के परायेपन और आत्मा के अपनेपन पर गहराई से मंथन करना होगा।

"पल रुधिर राध मल थैली, कीकस बसादि तैं मैली।
नव द्वार बहें घिनकारी, अस देह करे किम यारी।।[१]

कफ और चर्बी आदि से मैली यह देह मांस, खून, पीप आदि मलों की थैली है। इसमें नाक, कान, आँख नौ दरवाजे हैं; जिनसे निरन्तर घृणास्पद पदार्थ बहते रहते हैं। हे आत्मन्! तू इसप्रकार की घिनावनी देह से यारी क्यों करता है?"

"इस देह के संयोग में, जो वस्तु पलभर आयगी।
वह भी मलिन मल-मूत्रमय, दुर्गन्धमय हो जायगी।।
किन्तु रह इस देह में, निर्मल रहा जो आतमा।
वह ज्ञेय है श्रद्धेय है, बस ध्येय भी वह आतमा।।[२]"

इस देह की अपवित्रता की बात कहाँ तक कहें? इसके संयोग में जो भी वस्तु एक पल भर के लिए ही क्यों न आये, वह भी मलिन हो जाती है, मल-मूत्रमय हो जाती है, दुर्गन्धमय हो जाती है। सब पदार्थों को पवित्र कर देनेवाला जल भी इसका संयोग पाकर अपवित्र हो जाता है। कुएँ के प्रासुक जल और अठपहरे शुद्ध घी में मर्यादित आटे से बना हलुआ भी क्षणभर को पेट में चला जावे और तत्काल वमन हो जावे तो उसे कोई देखना भी पंसद नहीं करता। ऐसी अपवित्र है यह देह और इसमें रहनेवाला भगवान आत्मा परमपवित्र पदार्थ है।

"आनन्द का रसकन्द सागर शान्ति का निज आतमा।
सब द्रव्य जड़ पर ज्ञान का घनपिण्ड केवल आतमा।।[३]"

यह परम पवित्र भगवान आत्मा आनन्द का रसकंद ज्ञान का घनपिण्ड, शान्ति का सागर, गुणों का गोदाम और अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है।

---

१. पण्डित दौतलराम : छहढाला, पाँचवीं ढाल, अशुचिभावना
२. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : बारहभावना, एकत्वभावना
३. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : बारहभावना, अशुचिभावना

इसप्रकार हमने देह की अपवित्रता तथा भगवान आत्मा की पवित्रता और महानता पर बहुत विचार किया है, पढ़ा है, सुना है; पर देह से हमारा ममत्व रंचमात्र भी कम नहीं हुआ और आत्मा में रंचमात्र भी अपनापन नहीं आया। परिणामस्वरूप हम वहीं के वहीं खड़े हैं, एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाये हैं।

देह से अपनापन नहीं टूटने से राग भी नहीं टूटता; क्योंकि जो अपना है, वह कैसा भी क्यों न हो, उसे कैसे छोड़ा जा सकता? इसीप्रकार आत्मा में अपनापन स्थापित हुए बिना उससे अंतरंग स्नेह भी नहीं उमड़ता। अत: हमारे चिन्तन का विन्दु आत्मा का अपनापन और देह का परायापन होना चाहिए। इसी से आत्मा में एकत्व स्थापित होगा, देह से भिन्नता भासित होगी।

निज भगवान आत्मा में अपनापन ही सम्यग्दर्शन है और निज भगवान आत्मा से भिन्न देहादि पदार्थों में अपनापन ही मिथ्यादर्शन है।

अपनेपन की महिमा अद्भुत है। अपनेपन के साथ अभूतपूर्व उल्लसित परिणाम उत्पन्न होता है। आप प्लेन में बैठे विदेश जा रहे हों; हजारों विदेशियों के बीच किसी भारतीय को देखकर आपका मन उल्लसित हो उठता है। जब आप उससे पूछते हैं कि आप कहाँ से आये हैं? तब वह यदि उसी नगर का नाम ले दे, जिस नगर के आप हैं तो आपका उल्लास द्विगुणित हो जाता है। यदि वह आपकी ही जाति का निकले तो फिर कहना ही क्या है? यदि वह दूसरी जाति, दूसरे नगर या दूसरे देश का निकले तो उत्साह ठंडा पड़ जाता है।

इस उल्लास और ठंडेपन का एकमात्र कारण अपनेपन और परायेपन की अनुभूति ही तो है। अपने में अपनापन आनन्द का जनक है, परायों में अपनापन आपदाओं का घर है; यही कारण है कि अपने में अपनापन ही साक्षात् धर्म है और परायों में अपनापन महा-अधर्म है।

अपने में से अपनापन खो जाना ही अनन्त दु:खों का कारण है और अपने में अपनापन हो जाना ही अनन्त सुख का कारण है। अनादिकाल से यह आत्मा अपने को भूलकर ही अनन्त दु:ख उठा रहा है और अपने को जानकर, पहिचानकर, अपने में ही जमकर, रमकर, अनन्त सुखी हो सकता है।

दु:खों से मुक्ति के मार्ग में अपने में अपनापन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

एक सेठ था और उसका एक दो-ढाई वर्ष का इकलौता बेटा। घर के सामने खेलते-खेलते वह कुछ आगे बढ़ गया। घर की खोज में वह दिग्भ्रमित हो गया और पूर्व के बजाय पश्चिम की ओर बढ़ गया। बहुत खोजने पर भी उसे अपना घर नहीं मिला। घरवालों ने भी बहुत खोज की, पर पार न पड़ी। वह रात उसे गली-कूचों में ही रोते-रोते बितानी पड़ी। प्रात:काल तक उसकी हालत ही बदल गई थी, कपड़े गंदे हो गये और चेहरा मलिन, दीन-हीन।

बहुत कुछ प्रयत्नों के बाद भी न उसे घर मिला और न घरवालों को वह। भीख मांगकर पेट भरने के अतिरिक्त कोई रास्ता न रहा। थोड़ा बड़ा होने पर लोग कहने लगे—काम क्यों नहीं करता? आखिर एक हलवाई की दुकान पर बर्तन साफ करने का काम करने लगा।

पुत्र के वियोग में सेठ का घर भी अस्त-व्यस्त हो गया था। अब न किसी को खाने-पीने में रस रह गया था और न आमोद-प्रमोद का प्रसंग ही। घर में सदा मातम का वातावरण ही बना रहता। ऐसे घरों में घरेलू नौकर भी नहीं टिकते; क्योंकि वे भी तो हंसी-खुशी के वातावरण में रहना चाहते हैं। अत: उनका चौका-बर्तन करने वाला नौकर भी नौकरी छोड़ कर चला गया था। अत: उन्हें एक घरेलू नौकर की आवश्यकता थी। आखिर उस सेठ ने उसी हलवाई से नौकर की व्यवस्था करने को कहा और वह सात-आठ साल का बालक अपने ही घर में नौकर बन कर आ गया।

अब माँ बेटे के सामने थी और बेटा माँ के सामने; पर माँ बेटे के वियोग में दु:खी थी और बेटा माँ-बाप के वियोग में। माँ भोजन करने बैठती तो मुँह में कौर ही नहीं दिया जाता, बेटे को याद कर-करके रोती-बिलखती हुई कहती—

"न जाने मेरा बेटा कहाँ होगा, कैसी हालत में होगा? होगा भी या नहीं? या किसी के यहाँ चौका-बर्तन कर रहा होगा?"

वहीं खड़ा बेटा एक रोटी माँगता तो झिड़क देती—

"जा अभी काम कर, बचेगी तो फिर दूँगी। काम तो करता नहीं और बार-बार रोटी माँगने आ जाता है।"

उसी बेटे के लिए रोती-बिलखती और उसे ही रोटी माँगने पर झिड़कती। क्या है यह सब? आखिर वह माँ दु:खी क्यों है?

क्या कहा, बेटे के अभाव में?

बेटा तो सामने है। बेटे के अभाव में नहीं, बेटे में अपनेपन के अभाव में ही वह माँ परेशान हो रही है, दु:खी हो रही है।

उसका बेटा नहीं खोया है, बेटा तो सामने है, बेटे की पहिचान खो गई है, बेटे में अपनापन खो गया है। मात्र पहिचान खो जाने, अपनापन खो जाने का ही यह दुष्परिणाम है कि वह अनन्त दु:ख के समुद्र में डूब गई है, उसकी सम्पूर्ण सुख-शान्ति समाप्त हो गई है।

उसे सुखी होने के लिए बेटे को नहीं खोजना, उसमें अपनापन खोजना है।

एक दिन पड़ोसिन ने कहा—"अम्माजी। एक बात कहूँ, बुरा न मानना यह लड़का अभी बहुत छोटा है, इससे काम जरा कम लिया करें और खाना भी थोड़ा अच्छा दिया करें, समय पर दिया करें।"

सेठानी एकदम क्रोधित होती हुई बोली—"क्या कहती हो? यह काम करता ही क्या है? दिन भर पड़ा रहता है और खाता भी कितना है? तुम्हें क्या पता—दिन भर चरता ही रहता है।"

बहुत कुछ समझाने पर भी वह सेठानी यह मानने को तैयार ही नहीं होती कि बच्चे के साथ कुछ दुर्व्यवहार किया जा रहा है। क्या है—इस सबका कारण? एकमात्र अपनेपन का अभाव।

कहते हैं—मातायें बहुत अच्छी होती हैं। होती होंगी, पर मात्र अपने बच्चों के लिए, पराये बच्चों के साथ उनका व्यवहार देखकर तो शर्म से माथा झुक जाता है। यह सभी माताओं की बात नहीं है; पर जो ऐसी हैं, उन्हें अपने व्यवहार पर एक बार अवश्य विचार करना चाहिए।

एकबार एक दूसरी पड़ोसिन ने बड़े ही संकोच के साथ कहा—

"अम्माजी! मेरे मन में एक बात बहुत दिनों से आ रही है, आप नाराज न हों तो कहूँ? बात यह है कि यह नौकर शकल से और अकल से सब बातों में अपना पप्पू जैसा ही लगता है। वैसा ही गोरा-भूरा, वैसे ही घुंघराले बाल; सब-कुछ वैसा ही तो है, कुछ भी तो अन्तर नहीं और यदि आज वह होता तो होता भी इतना ही बड़ा।"

उसकी बात सुनकर सेठानीजी उल्लासित हो उठीं, उनके लाड़ले बेटे की चर्चा जो हो रही थी, कहने लगीं—"लगता तो मुझे भी ऐसा ही है। इसे देखकर मुझे अपने बेटे की और अधिक याद आ जाती है। ऐसा लगता है, जैसे यह मेरा ही बेटा हो।"

सेठानी की बात सुनकर उत्साहित होती हुई पड़ोसिन बोली—"अम्माजी! अपने पप्पू को खोये आज आठ वर्ष हो गये हैं, अबतक तो मिला नहीं; और न अब मिलने की आशा है। उसके वियोग में कबतक दु:खी होती रहोगी? मेरी बात मानो तो आप इसे ही गोद क्यों नहीं ले लेती?"

उसने इतना ही कहा था कि सेठानी तमतमा उठी—

"क्या बकती है? न मालूम किस कुजात का होगा यह?"

सेठानी के इस व्यवहार का एकमात्र कारण बेटे में अपनेपन का अभाव ही तो है। वैसे तो वह बेटा उसी का है, पर उसमें अपनापन नहीं होने से उसके प्रति व्यवहार बदलता नहीं है।

अपना होने से क्या होता है? जबतक अपनापन न हो, तबतक अपने होने का कोई लाभ नहीं मिलता। यहाँ अपने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण अपनापन है।

भाई, यही हालत हमारे भगवान आत्मा की हो रही है। यद्यपि वह अपना ही है, अपना ही क्या, अपन स्वयं ही भगवान आत्मा हैं, पर भगवान आत्मा में अपनापन नहीं होने से उसकी अनन्त उपेक्षा हो रही है, उसके साथ पराये बेटे जैसा व्यवहार हो रहा है। वह अपने ही घर में नौकर बन कर रह गया है।

यही कारण है कि आत्मा की सुध-बुध लेने की अनन्त प्रेरणायें भी कारगर नहीं हो रही हैं, अपनापन आये बिना कारगर होंगी भी नहीं। इसलिए जैसे भी संभव हो, अपने आत्मा में अपनापन स्थापित करना ही एकमात्र कर्तव्य है, धर्म है।

इसीप्रकार चलते-चलते वह लड़का अठारह वर्ष का हो गया। एक दिन इस बात का कोई ठोस प्रणाम उपलब्ध हो गया कि वह लड़का उन्हीं सेठजी का है। उक्त सेठानी को भी यह विश्वास हो गया कि वह सचमुच उसका ही लाड़ला बेटा है।

अब आप बताइये— अब क्या होगा?

होगा क्या? वह सेठानी जोर-जोर से रोने लगी। सेठजी ने समझाते हुए कहा—

"अब क्यों रोती है? अब तो हँसने का समय आ गया है, अब तो तुझे तेरा पुत्र मिल गया है।"

रोते-रोते ही सेठानी बोली—"मेरे बेटे का बचपन बर्तन मलते-मलते यों ही अनन्त कष्टों में निकल गया है, न वह पढ़-लिख पाया है, न खेल-खा पाया।

हाय राम! मेरे ही आँखों के सामने उसने अनन्त कष्ट भोगे हैं, न मैंने उसे ढंग का खाना ही दिया और न पलभर निश्चिंत हो आराम ही करने दिया, जब देखो तब काम में ही लगाये रखा।"

जो सेठानी इस बात को स्वीकार करने को कतई तैयार न थी कि वह उस बालक से बहुत काम कराती है और खाना भी ढंग का नहीं देती है, वही अब इकबालिया बयान दे रही है कि मैंने बहुत काम कराया है और खाना भी ढंग का नहीं दिया।

यह सब अपनेपन का ही माहात्म्य है। अब क्या उसे यह समझाने की आवश्यकता है कि जरा काम कम लिया करें और खाना भी अच्छा दिया करें। अब काम का तो कोई सवाल ही नहीं रह गया है और खाने की भी क्या बात है, अब तो उसकी सेवा में सबकुछ हाजिर है। व्यवहार में इस परिवर्तन का एकमात्र कारण अपनेपन की पहिचान है, अपनेपन की भावना है।

इसीप्रकार जबतक निज भगवान आत्मा में अपना अपनापन स्थापित नहीं होगा, तबतक उसके प्रति अपनेपन का व्यवहार भी संभव नहीं है।

इन देहादिपरपदार्थों से भिन्न निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होना ही एक अभूतपूर्व अद्भुत क्रान्ति है, धर्म का आरम्भ है, सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्चारित्र है, साक्षात् मोक्ष का मार्ग है, भगवान बनने, समस्त दु:खों को दूर करने और अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। ■

निज भगवान आत्मा की आराधना ही वास्तविक धर्म है; क्योंकि निज भगवान आत्मा की आराधना का नाम ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

- बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-१६८

६

अपनी खोज

अपने में अपनापन ही धर्म है और पर में अपनापन ही अधर्म है; इसलिए ज्ञानी धर्मात्मा निरन्तर इसप्रकार की भावना भाते रहते हैं कि—

मोहादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय।
है मोह-निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय॥
धर्मादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय।
है धर्म निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय॥
मैं एक दर्शन-ज्ञानमय नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं।
ये अन्य सब परद्रव्य किंचित् मात्र भी मेरे नहीं॥[१]

धर्मादि परद्रव्यों एवं मोहादि विकारीभावों में से अपनापन छोड़कर उपयोगस्वरूपी शुद्ध निज भगवान आत्मा में अपनेपन की दृढ़ भावना ही धर्म है, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति का मार्ग है; अतः निज भगवान आत्मा को जानने-पहिचानने का प्रयत्न करना चाहिए और निज भगवान आत्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न : हम तो बहुत प्रयत्न करते हैं, पर वह भगवान आत्मा हमें प्राप्त क्यों नहीं होता?

उत्तर : भगवान आत्मा की प्राप्ति के लिए जैसा और जितना प्रयत्न करना चाहिए; यदि वैसा और उतना प्रयत्न करें तो भगवान आत्मा की प्राप्ति अवश्य ही होती है। सच्ची बात तो यह है कि भगवान आत्मा की प्राप्ति की जैसी तड़फ पैदा होनी चाहिए; अभी हमें वैसी तड़फ ही पैदा नहीं हुई है। यदि अन्तर की गहराई से वैसी तड़फ पैदा हो जावे तो फिर भगवान आत्मा की प्राप्ति में देर ही न लगे।

---

१. समयसार पद्यानुवाद ३६-३८

भगवान आत्मा की प्राप्ति की तड़फवाले व्यक्ति की स्थिति कैसी होती है? इसे हम उस बालक के उदाहरण से अच्छी तरह समझ सकते हैं कि जिसकी माँ मेले में खो गई हो। एक पाँच वर्ष का बालक माँ के साथ मेला देखने गया था। मेले की अपार भीड़ में वे दोनों बिछुड़ गये। एक पुलिस चौकी पर माँ पहुँची और उसने बेटा खोने की रिपोर्ट लिखाई; दूसरी पुलिस चौकी पर बेटा पहुँचा और उसने माँ के खोने की रिपोर्ट लिखाना चाही। पर उसकी रिपोर्ट को सही रूप में कोई लिखता ही नहीं है।

इन्सपेक्टर ने काँस्टेबल से पूछा—"कौन है?"

काँस्टेबल ने उत्तर दिया—"एक खोया हुआ बालक आया है।"

बालक ने बीच में ही टोकते हुए कहा—"इन्सपेक्टर साहब मैं नहीं, मेरी माँ खोई है; मैं तो आपके सामने ही खड़ा हूँ।"

डपटते हुए काँस्टेबल बोला—"चुप रह, कहीं माँ भी खोती है? खोते तो बच्चे ही हैं।"

आखिर उन्होंने यही रिपोर्ट लिखी कि एक खोया हुआ बालक आया है। जो भी हो; अब बालक से पूछताछ आरम्भ होती है।

"क्यों भाई, तुम्हारा नाम क्या है?"

'पप्पू'

"तुम्हारी माँ का क्या नाम है?"

'मम्मी'

"तुम रहते कहाँ हो?"

"अपने घर में"

बालक के ऐसे उत्तर सुनकर पुलिसवाले आपस में कहते हैं कि जब यह बालक अपनी माँ को पहिचानता ही नहीं है, उसका नाम तक भी नहीं जानता है तो इसकी माँ को कैसे खोजा जाय?

उनकी बातें सुनकर बालक सोचता है कि जिस नाम से मैं माँ को रोजाना बुलाता हूँ, क्या वह नाम, नाम ही नहीं है? मम्मी कहकर जब भी बुलाता हूँ, माँ हाजिर हो जाती है; फिर भी ये लोग कहते हैं कि मैं माँ का नाम भी नहीं जानता।

बालक यह सोच ही रहा था कि पुलिसवाला फिर पूछने लगता है— "तेरी माँ मोटी है या पतली है, गोरी या काली, लम्बी या ठिगनी?"

बालक ने तो कभी सोचा भी न था कि माताएँ भी छह प्रकार की होती हैं, उसने तो अपनी माँ को कभी इन रूपों में देखा ही न था। उसने तो माँ का माँपन ही देखा था, रूप-रंग नहीं, कद भी नहीं। वह कैसे वताये कि उसकी माँ गोरी है या काली, लम्बी है या ठिगनी, मोटी या पतली है?

ये तो सापेक्ष स्थितियाँ हैं।

दूसरों से तुलना करने पर ही किसी गोरा या काला कहा जा सकता है, लम्बा या ठिगना कहा जा सकता है, मोटा या पतला कहा जा सकता है।

मैं आपसे ही पूछता हूँ कि मैं गोरा हूँ या काला, लम्बा हूँ या ठिगना, मोटा हूँ या पतला?

मैं तो जैसा हूँ, वैसा ही हूँ; न गोरा हूँ, न काला हूँ; न लम्बा हूँ, न ठिगना हूँ और न मोटा ही हूँ, न पतला ही। मेरी बगल में एक अंग्रेज को खड़ा कर दें तो उसकी अपेक्षा मुझे काला कहा जा सकता है, किसी अफ्रीकन को खड़ा कर दें तो गोरा भी कहा जा सकता है; किसी ठिगने आदमी को खड़ा कर दो तो लम्बा कहा जा सकता है और मुझसे भी लम्बे आदमी को खड़ा कर दो तो ठिगना भी कहा जा सकता है। इसीप्रकार किसी मोटे आदमी को खड़ा कर दो तो मुझे पतला कहा

जा सकता है और मुझसे भी पतले आदमी को खड़ा कर दो तो मोटा भी कहा जा सकता है।

मैं किसी की अपेक्षा भले ही मोटा-पतला या गोरा-काला हो सकता हूँ, पर निरपेक्षपने तो जैसा हूँ, वैसा ही हूँ।

उसने अपनी माँ की तुलना किसी दूसरे से की ही न थी। अत: वह कैसे बताये कि उसकी माँ कैसी है?

उसके निरुत्तर रहने पर पुलिसवाले कहते हैं कि वह तो अपनी माँ को पहिचानता ही नहीं है, पर क्या यह बात सच है? क्या वह बालक अपनी माँ को पहिचानता नहीं है?

पहिचानना अलग बात है और पहिचान को भाषा देना अलग। हो सकता है कि वह अपने भावों को व्यक्त नहीं कर सकता हो, पर पहिचानता ही न हो— यह बात नहीं है; क्योंकि यदि उसकी माँ उसके सामने आ जावे तो वह एक क्षण में पहिचान लेगा।

एक बीमा एजेन्ट ने कुछ वर्ष पूर्व उसकी माँ का एक बीमा करवाया था। अत: उसकी डायरी में सब-कुछ नोट है कि उसकी लम्बाई कितनी है, वजन कितना है, कमर कितनी है और सीना कितना है।

अत: वह यह सब-कुछ बता सकता है, पर उसके सामने वह माँ आ जाये तो पहिचान न पावेगा। यदि पूछा जाय तो डायरी निकाल कर देखेगा और फीता निकाल कर नापने की कोशिश करेगा; पर सब बेकार है; क्योंकि जब उसने नाप लिया था, तब सीना ३६ इंच था और कमर ३२ इंच, पर आज सीना ३२ इंच रह गया होगा और कमर ३६ इंच हो गई होगी।

इसीप्रकार शास्त्रों में पढ़कर आत्मा की नाप-जोख करना अलग बात है और आत्मा का अनुभव करके पहिचानना, उसमें अपनापन स्थापित करना अलग बात है।

जो भी हो, जब बालक कुछ भी न बता सका तो पुलिसवालों ने बालक को एक ऐसे स्थान पर खड़ा कर दिया, जहाँ से मेले में आनेवाली सभी महिलायें निकलती थीं। बालक की सुरक्षा के लिए एक पुलिसवाले को भी साथ में खड़ा कर दिया और बालक से कहा—

"यहाँ से निकलनेवाली प्रत्येक महिला को ध्यान से देखो और अपनी माँ को खोजो।"

इससे एक ही बात फलित होती है कि बालक को अपनी माँ स्वयं ही खोजनी होगी, किसी का कोई विशेष सहयोग मिलनेवाला नहीं है; पुलिसवालों का भी नहीं।

इसीप्रकार प्रत्येक आत्मार्थी को अपने आत्मा की खोज स्वयं ही करनी होगी, किसी दूसरे के भरोसे कुछ होनेवाला नहीं है, गुरु के भरोसे रहने पर भी आत्मा मिलनेवाला नहीं है। **'अपनी मदद आप करो'**—यही महासिद्धान्त है।

किसी भी महिला के वहाँ से निकलने पर पुलिसवाला पूछता—"क्या यही तेरी माँ है?"

बालक उत्तर देता— 'नहीं।'

ऐसा दो-चार बार होने पर पुलिसवाला चिढ़चिढ़ाने लगा और बोला—

"क्या नहीं-नहीं करता है, जरा अच्छी तरह देख।"

क्या माँ को पहिचानने के लिए भी अच्छी तरह देखना होता है, वह तो पहली दृष्टि में ही पहिचान ली जाती है, पर पुलिसवाले को कौन समझाये?

पुलिसवाले की झल्लाहट एवं डाट-डपट से बालक, जो माँ नहीं है, उसे माँ तो कह नहीं सकता; यदि डर के मारे कह भी दे, तो भी उसे माँ मिल तो नहीं सकती; क्योंकि उस माँ को भी तो स्वीकार करना

चाहिए कि यह बालक मेरा है। यदि कारणवश माँ भी झूठ-मूठ कह दे कि हाँ यह बालक मेरा ही है। पर उससे वह बालक उसका हो तो नहीं जायेगा।

आप कह सकते हैं कि वह महिला भी ऐसा क्यों कहेगी? पर मैं कहता हूँ— कह सकती है, बाँझ हो तो बालक के लोभ में कह सकती है और पुलिसवाले तो किसी से भी कुछ भी कहला सकते हैं। क्या आप यह नहीं जानते? पर बात यह है कि इतने मात्र से माँ को बालक और बालक को अपनी माँ तो नहीं मिल जावेगी।

इसीप्रकार गुरु बार-बार समझायें और समझ में न आने पर हमें भला-बुरा कहने लगें तो हम भय से, इज्जत जाने के भय से कह सकते हैं कि हाँ समझ में आ गया, पर इतना कहने मात्र से तो कार्य चलनेवाला नहीं है।

इज्जतवाले सेठ ने गुरुजी से पूछा— "भगवान! आत्मा कैसा है और कैसे प्राप्त होता है?"

गुरुजी ने पाँच मिनट समझाया और पूछा—

"आया समझ में?"

सेठ ने विनयपूर्वक उत्तर दिया— "नहीं गुरुजी"

गुरुजी ने पाँच मिनट और समझाया और फिर पूछा—

"अब आया?"

'नहीं' उत्तर मिलने पर व्याकुलता से गुरुजी फिर समझाने लगे, उदाहरण देकर समझाया और फिर पूछा "अब तो आया या नहीं?"

'नहीं' उत्तर मिलने पर झल्लाकर बोले—

"माथे में कुछ है भी या गोबर भरा है?"

घबराकर सेठजी बोले—"अब समझ में आ गया"

इज्जतवाले थे न, इज्जत जाती दिखी तो बिना समझ में आये ही कह दिया, पर बालक तो इज्जतवाला नहीं है न?

अत: वह माँ के मिले बिना कहनेवाला नहीं है; क्योंकि उसे इज्जत नहीं, माँ चाहिए। जिन्हें आत्मा से अधिक इज्जत प्यारी है, उन्हें इज्जत ही मिलती है, आत्मा नहीं।

जब बार-बार बालक ना कहता रहा तो पुलिसवाला झल्लाकर बोला— "मैं धूप में क्यों खड़ा रहूँ, माँ तो तुझे ही खोजनी है। अत: मैं वहाँ छाया में बैठा हूँ, तू सभी महिलाओं को देख; जब माँ मिल जावे, तब मुझे बता देना।"

ऐसा कहकर पुलिसवाला दूर छाया में जा बैठा। बालक ने भी राहत की सांस ली; क्योंकि पुलिसवाला कुछ सहयोग तो कर ही नहीं रहा था; व्यर्थ ही टोका-टोकी कर ध्यान को भंग अवश्य कर रहा था।

कम से कम अब उसके चले जाने पर बालक पूरी शक्ति से, स्वतंत्रता से माँ को खोज तो सकता है।

इसीप्रकार जब साधक आत्मा की खोज में गहराई से तत्पर होता है, तब उसे अनावश्यक टोका-टोकी या चर्चा-वार्ता पसन्द नहीं होती; क्योंकि वह उसके ध्यान को भंग करती है।

उस बालक को अपनी माँ की खोज की जैसी तड़प है, आत्मा की खोज की वैसी तड़प हमें भी जगे तो आत्मा मिले बिना नहीं रहे।

वह बालक अच्छी तरह जानता है कि यदि सायं तक माँ नहीं मिली तो क्या होगा? घनी अंधेरी रात उसे पुलिस चौंकी की काली कोठरी में अकेले ही बितानी होगी और न मालूम क्या-क्या बीतेगी उस पर? बात मात्र इतनी ही नहीं है। यदि माँ मिली ही नहीं तो सारा जीवन भीख मांगकर गुजारना पड़ सकता है। इसका ख्याल आते ही वह काँप उठता है, सब-कुछ भूलकर अपनी माँ की खोज में संलग्न हो जाता है।

क्या उस बालक के समान हमें भी यह कल्पना है कि यदि जीवन की संध्या तक भगवान आत्मा नहीं मिला तो चार गति और चौरासी लाख योनियों के घने अंधकार में अनन्त काल तक भटकना होगा, अनन्त दु:ख भोगने होंगे। यदि हमें इसकी कल्पना होती तो हम यह बहुमूल्य मानवजीवन यों ही विषय-कषाय में बर्बाद नहीं कर रहे होते।

उस बालक से यदि कोई कहे कि बहुत देर हो गई धूप में खड़े-खड़े; जरा इधर आओ, छाया में बैठ जाओ; कुछ खाओ-पिओ, खेलो-कूदो, मन बहलाओ; फिर खोज लेना अपनी माँ को, क्या जल्दी है अभी; अभी तो बहुत दिन बाकी है।

तो क्या वह बालक उसकी बात सुनेगा, शान्ति से छाया में बैठेगा, इच्छित वस्तु प्रेम से खायेगा, खेलेगा-कूदेगा, मन बहलायेगा? यदि नहीं तो फिर हम और आप भी यह सब कैसे कर सकते हैं, पर कर रहे हैं; —इससे यही प्रतीत होता है कि हमें आत्मा की प्राप्ति की वैसी तड़प नहीं है, जैसी उस बालक को अपनी माँ की खोज की है। इसलिए मैं कहता हूँ कि आत्मा की प्राप्ति के लिए जैसा और जितना पुरुषार्थ चाहिए, वह नहीं हो रहा है— यही कारण है कि हमें भगवान आत्मा की प्राप्ति नहीं हो रही है।

यह बात भी नहीं है कि वह बालक भूखा ही रहेगा; खायेगा, वह भी खायेगा, पर उसे खाने में कोई रस नहीं होगा। धूप बर्दाश्त न होने पर थोड़े समय को छाया में भी बैठ सकता है, पर ध्यान उसका माँ की खोज में ही रहेगा। खेलने-कूदने और मनोरंजन का तो कोई प्रश्न ही नहीं है।

इसीप्रकार आत्मा का खोजी भी भूखा तो नहीं रहता, पर खाने-पीने में ही जीवन की सार्थकता उसे भासित नहीं होती। यद्यपि वह स्वास्थ्य के अनुरूप ही भोजन करेगा, पर अभक्ष्य भक्षण करने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। कमजोरी के कारण वह अनेक सुविधाओं

के बीच भी रह सकता है, पर उसका ध्यान सदा आत्मा की ओर ही रहता है। खेलने-कूदने और मनोरंजन में मनुष्य भव खराब करने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

जब माँ की खोज में व्यस्त बालक का मन खेल-कूद और मनोरंजन में नहीं लगता; तब आत्मा के खोजी को यह सब कैसे सुहा सकता है?

संयोग तो पुण्य-पापानुसार जैसे होते हैं, वैसे होते हैं, उनमें ही वह अपना जीवन-निर्वाह करता है। यदि पुण्ययोग हुआ तो उसे अधिकतम लौकिक सुविधायें भी उपलब्ध हो सकती हैं, रहने को राजमहल भी मिल सकता है; यद्यपि वह राजमहल में रहेगा, उसे झोंपड़ी में परिवर्तित नहीं करेगा; तथापि वह उन अनुकूल संयोगों में मग्न नहीं होता, उसका अन्तर तो निज भगवान आत्मा की आराधना में ही रत रहता है।

जिसप्रकार संध्या के पूर्व बालक को माँ मिलनी ही चाहिए; उसीप्रकार जीवन संध्या के पूर्व हमें भगवान आत्मा की प्राप्ति होना ही चाहिए—ऐसा दृढ़-संकल्प प्रत्येक आत्मार्थी का होना चाहिए; तभी कुछ हो सकता है।

मानलो मेला प्रातः १० बजे आरंभ हुआ था और शाम को ६ बजे समाप्त होना है। इसप्रकार कुल मेला ८ घंटे का है। मानलो हमारा जीवन भी कुल ८० वर्ष का होगा। इस हिसाब से १० वर्ष का एक घंटा हुआ। मानलो १० बजे हमारा जन्म हुआ तो ११ बजे हम १० वर्ष के हो गये। इसी प्रकार १२ बजे २० वर्ष के, १ बजे ३० वर्ष के, २ बजे ४० वर्ष के, ३ बजे ५० वर्ष के, ४ बजे ६० वर्ष के, ५ बजे ७० वर्ष के और ६ बजे पूरे ८० वर्ष के हो जावेंगे।

दिन के दो बज गये हैं; पर अभी तक माँ नहीं मिली तो वह बालक आकुल-व्याकुल हो उठता है; क्योंकि उसे कल्पना है कि यदि शाम तक माँ न मिली तो उसका क्या होगा?

अरे, भाई! हमारे तो चार बज गये हैं। चार बज गये हैं अर्थात् हम तो साठ वर्ष के हो गये हैं और अभी तक आत्मा नहीं मिला। ऐसे ही दो घंटे और निकल गये, दस-बीस वर्ष और निकल गये तो फिर क्या होगा हमारा। उस बालक के समान हमें भी इस बात की कल्पना है या नहीं? जरा, एक बार गंभीरता से विचार तो करो।

यह बहुमूल्य जीवन यों ही बीता जा रहा है और हम रंग-राग में ही मस्त हैं; क्या होगा हमारा?

आत्मखोजी की दृष्टि भी उस बालक जैसी ही होना चाहिए। जिसप्रकार वह बालक अपनी माँ की खोज की प्रक्रिया में अनेक महिलाओं को देखता है, पर उसकी दृष्टि किसी भी महिला पर जमती नहीं है। यह पता चलते ही कि यह मेरी माँ नहीं है; वह नजर फेर लेता है; उसी को देखता नहीं रहता। यह नहीं सोचता कि यह मेरी माँ तो नहीं है, पर है तो सुन्दर; किसी न किसी की माँ तो होगी ही; पता चलाओ कि यह किसकी माँ है?— ऐसे विकल्पों में नहीं उलझता; उसके सम्बन्ध में विकल्पों को लम्बाता नहीं है; अपितु तत्काल तत्सम्बन्धी विकल्पों से निवृत्त हो जाता है।

उसीप्रकार आत्मार्थी को भी चाहिए कि वह परपदार्थों को जानते समय, उनके सम्बन्ध में व्यर्थ ही विकल्पों को लम्बा न करे। जिस प्रयोजन से उनका जानना बना है, उसकी सिद्धि होते ही तत्सम्बन्धी विकल्पों को विराम दे दे; किसी भी प्रयोजनभूत-अप्रयोजनभूत परपदार्थ को जानकर उसे ही जानते रहना आत्मार्थी का लक्षण नहीं है।

अपनी माँ की खोज करनेवाला बालक किसी अन्य महिला की सुन्दरता पर रीझता नहीं है; उसे तो अपनी माँ चाहिए, दूसरी महिलाओं से उसे क्या उपलब्ध होनेवाला है? अपनी माँ की खोज में व्यस्त बालक के पास दूसरी महिलाओं का सौन्दर्य निरखने का समय ही कहाँ है,

उन पर रीझने योग्य मानस ही उसके पास कहाँ है? वह तो अपनी माँ की खोज में ही आकुल-व्याकुल है।

इसीप्रकार परपदार्थों के अवलोकन से, उनपर रीझने से इस भगवान आत्मा को क्या मिलनेवाला है? आत्मार्थी के पास इतना समय भी कहाँ है कि वह दूसरों की सुन्दरता निरखता रहे; किसी आत्मार्थी के पास परपदार्थों पर रीझने योग्य मानस भी कहाँ होता है? वह तो अपनी आत्मा की खोज के लिए सम्पूर्णत: समर्पित होता है।

दूसरे की माताओं को जाना तो क्या, नहीं जाना तो क्या? अपनी माँ मिलनी चाहिए। उसीप्रकार दूसरे पदार्थों को जाना तो क्या, नहीं जाना तो क्या; अपनी आत्मा जानने में आना चाहिए, पहिचानने में आना चाहिए; क्योंकि हमें अनन्त आनन्द की प्राप्ति तो निज भगवान आत्मा के जानने से ही होनेवाली है। यही कारण है कि जिनागम में स्वद्रव्य के आश्रय से सुगति और परद्रव्य के आश्रय से दुर्गति होना बताया गया है।

जिसप्रकार वह बालक अन्य महिलाओं को जानता तो है, पर उनकी ओर लपकता नहीं है; उनसे लिपटता नहीं है; पर जब उसे अपनी माँ दिख जावेगी तो मात्र उसे जानेगा ही नहीं; उसकी तरफ लपकेगा भी; उससे लिपट भी जावेगा; उसमें तन्मय हो जावेगा, एकमेक हो जावेगा, आनन्दित हो जावेगा।

उसीप्रकार आत्मार्थी आत्मा भी परद्रव्यों को जानते तो हैं, पर उनमें जमते, रमते नहीं हैं; पर जब यह निज भगवान आत्मा उसके ज्ञान का ज्ञेय बनेगा तो, तब वह उसे भी मात्र जानता ही नहीं रहेगा, अपितु उसी में जम जावेगा, रम जावेगा, उसी में तन्मय हो जावेगा, उसी में अपनापन स्थापित कर लेगा, अनन्त आनन्दमय हो जावेगा।

उसकी यह अतीन्द्रिय आनन्दमय निजावलोकन की दशा ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्चारित्र है, मुक्ति का मार्ग है, सुखी होने का एकमात्र उपाय है, परमात्मा बनने की प्रक्रिया है, धर्म है;

अधिक क्या कहें— जीवन में करने योग्य एकमात्र कार्य यही है, इसे ही स्वद्रव्य का आश्रय कहते हैं और यही सुगति भी है, बंध का निरोध भी इसी से होता है।

अच्छा तो अब कल्पना कीजिए कि उस बालक को माँ दिखाई दे गई और उसने उसे अच्छी तरह पहिचान भी लिया कि यही मेरी माँ है तो फिर वह दौड़कर माँ के पास जायेगा या पुलिसवाले के पास यह सूचना देने कि मेरी माँ मिल गई है। निश्चित रूप से वह माँ के ही पास जायेगा; क्योंकि एक तो वह माँ के वियोग में तड़फ रहा था और दूसरे यह भी तो खतरा है कि जबतक वह पुलिस को सूचना देने जाता है तबतक माँ फिर आँखों से ओझल हो गई तो. . . ।

अत: वह तेजी से दौड़कर माँ के पास पहुँचेगा; पहुँचेगा ही नहीं, उससे लिपट जायेगा; माँ और बेटा तन्मय हो जावेंगे, अभेद हो जावेंगे, एक रूप हो जावेंगे।

उसीप्रकार जब इस आत्मा की दृष्टि में निज भगवान आत्मा आता है, तब यह गुरु को या किसी अन्य को यह बताने नहीं दौड़ता कि मुझे आत्मा का अनुभव हो गया है; अपितु निज भगवान आत्मा में ही तन्मय हो जाता है, अपने में ही समा जाता है, एकरूप हो जाता है, अभेद हो जाता है, विकल्पातीत हो जाता है।

जब वह माँ की ओर दौड़ा तो पुलिसवाला भी घबड़ाया और उसके पीछे वह भी दौड़ा। पुलिसवाले की घबराहट का कारण यह था कि यदि बच्चा भी भीड़ में गायब हो गया तो मुश्किल हो जायेगी; क्योंकि उसकी तो रिपोर्ट लिखी हुई है। पुलिस की कस्टडी से बालक का गायब हो जाना, उसकी नौकरी जाने का कारण भी बन सकता है।

जब पुलिसवाला वहाँ पहुँचा तो क्या देखता है कि वह बालक किसी अधेड़ महिला से एकमेक हो रहा है, दोनों एक-दूसरे से तन्मय हो रहे हैं।

उन्हें एकाकार देखकर भी अपनी आदत के अनुसार पुलिसवाला घुड़ककर पूछता है— "क्या यही है तेरी माँ ?"

क्या अब भी यह पूछने की आवश्यकता थी? उनके इस भावुक सम्मिलन से क्या यह सहज ही स्पष्ट नहीं हो गया था कि ये ही वे बिछुड़े हुए माँ-बेटे हैं, जिनकी एक-दूसरे को तलाश थी। जो इस सम्मिलन के अद्‌भुत दृश्य को देखकर भी न समझ पाये, उससे कुछ कहने से भी क्या होगा?

उसीप्रकार आत्मानुभवी पुरुष की दशा देखकर भी जो यह न समझ पाये कि यह आत्मानुभवी है, उसे बताने से भी क्या होनेवाला है?

पुलिसवालों की वृत्ति और प्रवृत्ति से तो आप परिचित ही हैं, उनसे उलझना ठीक नहीं है; क्योंकि यह बता देने पर भी कि यही मेरी माँ है, वे यह भी कह सकते हैं कि क्या प्रमाण है इसका? जैसा कि लोक में देखा जाता है कि खोई हुई वस्तु पुलिस कस्टडी में रखी जाती है, केस चलता है, अनेक वस्तुओं में मिलाकर पहिचानना होता है, तब भी मिले तो मिले, न मिले तो न मिले।

मेरी यह घड़ी यहीं पर रह जावे और इसे कोई पुलिस में जमा करा दे तो समझना कि अब हमें इसका मिलना बहुत कठिन है। केस चलेगा, उसीप्रकार की अनेक घड़ियों में मिलाकर मुझ से पहिचान कराई जावेगी। मैं आपसे ही पूछता हूँ कि एक कम्पनी की एक सी घड़ियों में क्या आप अपनी घड़ी पहिचान सकेंगे? नहीं तो फिर समझ लीजिए कि मेरी घड़ी मिलना कितना दुर्लभ है?

अत: पुलिसवालों से उलझना ठीक नहीं है, वे जो पूछें चुपचाप उत्तर देते जावो, इसी में भलाई है; क्योंकि यदि उन्होने माँ और बेटे दोनों को ही पुलिस कस्टडी में रख दिया तो क्या होगा?

यह जगत भी पुलिसवालों से कम थोड़े ही है, इससे उलझना भी ठीक नहीं है; जगत के लोग यह भी तो पूछ सकते हैं कि क्या प्रमाण

है कि तुम ज्ञानी हो; तो क्या ज्ञानीजन फिर इस बात के प्रमाण भी पेश करते फिरेंगे? प्रमाण पेश करने पर उन प्रमाणों की प्रामाणिकता पर संदेह किया जायेगा। अत: ज्ञानीजन इसप्रकार के प्रसंगों में जगत से उलझते नहीं हैं। इसी में सबकी भलाई है।

क्या वह बालक इस बात की घोषणा करता है कि मुझे मेरी माँ मिल गई है। बालक या माँ के खोने पर तो यहाँ-वहाँ तलाश भी की जाती है और समाचारपत्रों में विज्ञापन भी निकाला जाता है, पर मिल जाने पर तो कोई घोषणाएँ नहीं करता, विज्ञापन नहीं निकालता।

इसीप्रकार आत्मा की खोज की प्रक्रिया में तो पूछताछ हो सकती है, होती भी है, होना भी चाहिए; पर आत्मा की प्राप्ति हो जाने पर घोषणा की आवश्यकता नहीं होती, विज्ञापन की भी आवश्यकता नहीं होती।

खोये हुए लोगों के फोटो तो समाचारपत्रों में छपे देखे हैं, पर मिले हुए लोगों के फोटो तो आजतक नहीं देखे। यदि कोई छपाये तो यही समझा जाता है कि यह तो स्वयं के सम्पन्न होने के प्रचार का हल्कापन है। इसीप्रकार ज्ञानी होने की घोषणाएँ भी सस्ती लोकप्रियता अर्जित करने की ही वृत्ति है, प्रवृत्ति है।

बालक को माँ मिल गई, इतना ही पर्याप्त है, उसे माँ मिलने का यश नहीं चाहिए; इसीप्रकार ज्ञानियों को तो आत्मा की प्राप्ति ही पर्याप्त लगती है, उन्हें आत्मज्ञानी होने का यश मोहित नहीं करता। बालक को तो माँ का मिलना ही पर्याप्त है, वह तो उसी में मग्न है, अत्यन्त सन्तुष्ट है, पूरी तरह तृप्त है, उसे अन्य कोई वांछा नहीं रहती। इसीप्रकार ज्ञानी धर्मात्माओं को तो आत्मा की प्राप्ति ही पर्याप्त है, वे तो उसी में मग्न रहते हैं उसी में सन्तुष्ट रहते हैं; उसी में पूरी तरह तृप्त रहते हैं, उन्हें अन्य कोई वांछा नहीं रहती। वे इस बात के लिए लालायित नहीं रहते कि जगत उन्हें ज्ञानी समझे ही।

बालक को माँ मिल गई, बस, वह तो उसमें मग्न है, तृप्त है; पर माँ के सामने एक समस्या है कि बालक के खोने पर उसने एक घोषणा की थी कि जो व्यक्ति बालक को उससे मिलायेगा, खोज लायेगा; उसे वह ५०० रुपये पुरस्कार देगी। अब वह पुरस्कार किसे दिया जाय— पुलिस को, बालक को या माँ को?

पुलिस ने तो कुछ किया ही नहीं, माँ को तो बालक ने ही खोजा है और बालक को माँ ने खोजा है। पुलिस तो पुरस्कार पाने योग्य नहीं और माँ पुरस्कार देनेवाली है; अब बालक ही शेष रहता है, पर बालक को तो पुरस्कार नहीं, माँ चाहिए थी, जो उसे मिल गई है; अब उसे पुरस्कार में कोई रस नहीं है। वह तो अपनी माँ में ही इतना तृप्त है कि पुरस्कार की ओर उसका लक्ष्य ही नहीं है।

भाई, पुलिस का कोई योगदान ही न हो, यह बात भी नहीं है। आखिर बालक ने अपनी माँ की खोज पुलिस की सुरक्षा में ही की है, पुलिस के मार्गदर्शन में ही की है, यदि पुलिस की सुरक्षा उसे न मिली होती तो बालकों को उड़ाने वाला कोई गिरोह उसे उड़ा ले गया होता।

यदि पुलिसवाले मार्मिक बिन्दु पर उसे खड़ा नहीं करते तो माँ की खोज में बालक यहाँ-वहाँ मारा-मारा फिरता और माँ हाथ न लगती। पुलिस ने उसे ऐसा स्थान बताया कि जहाँ से प्रत्येक महिला का निकलना अनिवार्य-सा ही था, तभी तो उसे माँ मिल सकी।

अतः पुरस्कार पुलिस को ही मिलना चाहिए। इतने श्रम के बावजूद भी पुलिस को पुरस्कार के अतिरिक्त और मिला ही क्या है? बालक को तो माँ मिल गई, माँ को बालक मिल गया, पुलिस को क्या मिला? यह पुरस्कार मिल रहा है, सो आप वह भी नहीं देना चाहते— यह ठीक नहीं है।

इसीप्रकार ज्ञानी गुरुओं के संरक्षण और मार्गदर्शन में ही आत्मा की खोज का पुरुषार्थ प्रारंभ होता है। यदि गुरुओं का संरक्षण न मिले तो

यह आत्मा कुगुरुओं के चक्कर में फंसकर जीवन बर्बाद कर सकता है। तथा यदि गुरुओं का सही दिशा-निर्देश न मिले तो अप्रयोजनभूत बातों में ही उलझकर जीवन बर्बाद हो जाता है। अत: आत्मोपलब्धि में गुरुओं के संरक्षण एवं मार्गदर्शन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

गुरुजी अपना कार्य (आत्मोन्मुखी उपयोग) छोड़कर शिष्य का संरक्षण और मार्गदर्शन करते हैं; उसके बदले में उन्हें श्रेय के अतिरिक्त मिलता ही क्या है? आत्मोपलब्धि करनेवाले को तो आत्मा मिल गया, पर गुरुओं को समय की बर्बादी के अतिरिक्त क्या मिला? फिर भी हम उन्हें श्रेय भी न देना चाहें— यह तो न्याय नहीं है। अत: निमित्तरूप में श्रेय तो गुरुओं को ही मिलता है, मिलना भी चाहिए, उपादान निमित्त की यही संधि है, यही सुमेल है।

जिसप्रकार उस बालक ने अपनी माँ की खोज के लिए विश्व की सभी महिलाओं को दो भागों में विभाजित किया। एक भाग में अकेली अपनी माँ को रखा। दूसरे भाग में शेष सभी महिलाओं को रखा।

उसीप्रकार आत्मा की खोज करने वालों को भी विश्व को दो भागों में विभाजित करना आवश्यक है। एक भाग में स्वद्रव्य अर्थात् निज भगवान आत्मा को रखें और दूसरे भाग में परद्रव्य अर्थात् अपने आत्मा को छोड़कर सभी पदार्थ रखे जावें।

जिसप्रकार उस बालक को अपनी माँ की खोज के सन्दर्भ में देखने-जानने योग्य तो सभी महिलायें हैं; पर लिपटने-चिपटने योग्य मात्र अपनी माँ ही है; उसीप्रकार आत्मार्थी के लिए भी देखने-जानने योग्य तो सभी पदार्थ हैं; पर जमने-रमने योग्य निज भगवान आत्मा ही है, रति करने योग्य तो सुगति के कारणरूप स्वद्रव्य ही है, अपनापन स्थापित करने योग्य अपना आत्मा ही है, दुर्गति के कारणरूप परद्रव्य नहीं; इसीलिए मोक्षपाहुड़ में कहा गया है—

''परद्रव्य से हो दुर्गति निज द्रव्य से होती सुगति।
यह जानकर रति करो निज में अर करो पर से विरति।।[१]''

अपनी माँ को खोजने की जिसप्रकार की धुन—लगन उस बालक को थी, आत्मा की खोज की उसीप्रकार की धुन-लगन आत्मार्थी को होना चाहिए। आत्मार्थी की दृष्टि में स्वद्रव्य अर्थात् निज भगवान आत्मा ही सदा ऊर्ध्वरूप से वर्तना चाहिए। गहरी और सच्ची लगन के बिना जगत में कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता, तब फिर आत्मोपलब्धि भी गहरी और सच्ची लगन के बिना कैसे संभव है?

सभी आत्मार्थी भाई परद्रव्य से विरक्त हो स्वद्रव्य की आराधना कर आत्मोपलब्धि करें और अनन्त सुखी हों— इसी मंगल भावना से विराम लेता हूँ। ■

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द : मोक्ष पाहुड गाथा १६

विश्वविख्यात समस्त दर्शनों में जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो निज भगवान आत्मा की आराधना को धर्म कहता है; स्वयं के दर्शन को सम्यग्दर्शन, स्वयं के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और स्वयं के ध्यान को सम्यक्चारित्र कहकर इन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही वास्तविक धर्म घोषित करता है। ईश्वर की गुलामी से भी मुक्त करनेवाला अनंत स्वतंत्रता का उद्घोषक यह दर्शन प्रत्येक आत्मा को सर्वप्रभुतासम्पन्न परमात्मा घोषित करता है और उस परमात्मा को प्राप्त करने का उपाय भी स्वावलम्बन को ही बताता है।

यद्यपि प्रत्येक आत्मा स्वभाव से स्वयं परमात्मा ही है; तथापि यह अपने परमात्मस्वभाव को भूलकर स्वयं पामर बन रहा है। पर्यायगत पामरता को समाप्त कर स्वभावगत प्रभुता को पर्याय में प्रगट करने का एकमात्र उपाय पर्याय में स्वभावगत प्रभुता की स्वीकृति ही है, अनुभूति ही है। स्वभावगत प्रभुता की पर्याय में स्वीकृति एवं स्वभावसन्मुख होकर पर्याय की स्वभाव में स्थिरता ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

- बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-१७३

७

एकता की अपील

लिस्टर (इग्लेंड) में होनेवाले पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर पंचकल्याणक समिति एवं जैन शोसल ग्रुप के तत्त्वावधान में 21 जुलाई, 1988 ई. से 23 जुलाई, 1988 ई. तक जैन विश्व कॉन्फ्रेन्स आयोजित थी। इसमें भाग लेने के लिए देश-विदेश के अनेक गणमान्य लोग उपस्थित थे, जिनमें भट्टारक श्री चारुकीर्तिजी, श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) सर्वश्री श्रेणिकभाई कस्तूरभाई अहमदाबाद, साहू अशोककुमारजी जैन दिल्ली, दीपचंदजी गार्डी बम्बई, सी.एन. संघवी बम्बई, रतनलालजी गंगवाल कलकत्ता एवं निर्मलकुमारजी सेठी लखनऊ आदि प्रमुख थे।

विश्व जैन कॉन्फ्रेन्स के जिस सत्र में मेरा व्याख्यान था, उस सत्र का संयोजन श्री निर्मलकुमारजी सेठी को करना था। अत: हम एक साथ स्टेज पर तो थे ही, उन्होंने ही उपस्थित समाज को मेरा परिचय भी दिया था। उस सभा में मैंने जैन समाज की एकता एवं शाकाहार पर विचार व्यक्त किये थे, जिनका संक्षिप्त सार इसप्रकार है –

आज अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि इस महान उत्सव में जैनसमाज के सभी सम्प्रदाय एकत्रित हैं और मिलजुलकर सभी कार्य सम्पन्न कर रहे हैं।

मलिन वस्तुओं को भी निर्मल कर देनेवाला गंगा का अत्यन्त निर्मल जल भी जब घड़ों में कैद हो जाता है तो दूसरों को पवित्र कर देने की उसकी क्षमता तो समाप्त हो ही जाती है, वह स्वयं ही दूसरों के छू लेने मात्र से अपवित्र होने लगता है।

गंगा के पवित्र जल में बिना किसी भेदभाव के सभी नहाते हैं और अपने को पवित्र अनुभव करते हैं, परन्तु जब लोग गंगा का जल अपने घड़ों में भर

लेते हैं तो वह गंगा का जल, गंगा का जल न रहकर ब्राह्मण का जल, क्षत्रिय का जल, शूद्र का जल हो जाता है।

यदि एक जाति वाले के घड़े को दूसरी जातिवाला छूले तो लोग उस जल को अपवित्र मानने लगते हैं। कहते हैं – तूने मेरा पानी क्यों छू लिया ? वही गंगा का जल जो सबको पवित्र करता था, घड़ों में भर जाने से स्वयं अछूत हो गया। उसकी दूसरों को पवित्र करने की शक्ति तो समाप्त हो ही गई, वह स्वयं भी दूसरे के छू लेने मात्र से अपवित्र होने लगा।

इसीप्रकार सबको पावन कर देनेवाला यह जिनवाणी रूपी गंगा का जल जब सम्प्रदायों के घड़ों में भर जाता है तो उसमें वह क्षमता नहीं रहती कि दूसरों के चित्त को शान्त कर दे, अपितु साम्प्रदायिक उपद्रवों का कारण बनने लगता है; अत: यही श्रेष्ठ है कि गंगाजल गंगा में ही रहे, उसे घड़ों में बन्द न किया जाय।

गंगा के ही किनारे रखे गंगाजल से भरे घड़े छुआछूत पैदा करते हैं तो क्या उपाय है इस बुराई से बचने का ?

भाई, एक ही उपाय है कि उन घड़ों को फोड़ दिया जाय; क्योंकि पानी में तो कोई दोष है नहीं, वह तो वैसा का वैसा ही निर्मल है; दोष तो घड़ों में है। घड़ों के फूटने पर गंगा का पानी गंगा में ही मिल जायगा; गंगा में मिलते ही वह वही पावनता प्राप्त कर लेगा, पावन करने की शक्ति भी प्राप्त कर लेगा; जो उसमें घड़ों में कैद होने के पहले विद्यमान थी।

इसीप्रकार सम्प्रदायों में विभक्त जैनत्व, जो आज साम्प्रदायिक सड़ांध पैदा कर रहा है, कलह का कारण बन रहा है; यदि वह उन्मुक्त हो जावे तो अपनी पावनता को तो सहज उपलब्ध कर ही लेगा, अपनी पवित्रता की शक्ति से जैन समाज को ही नहीं, सम्पूर्ण दुनिया को प्रकाशित कर देगा, सुख-शान्ति का मार्ग प्रशस्त कर देगा।

हमने अपने ही अज्ञान से बहुत-सी दीवालें खड़ी कर ली हैं। सम्प्रदायों

की दीवालें, जाति की दीवालें, भाषा की दीवालें, प्रान्त की दीवालें; चारों ओर दीवालें ही दीवालें हैं और ये दीवालें निरन्तर ऊँची होती जा रही हैं।

दीवाल को अंग्रेजी में वाल कहते है। आज हम इन वालों-दीवालों के बीच विभक्त हो गये हैं। कोई खण्डेलवाल है, कोई अग्रवाल है, कोई ओसवाल; पर जैन कोई भी दिखाई नहीं देता।

यदि हम इन वालों-दीवालों को गिरा दें और सभी जैनत्व के महासागर में समाहित हो जावें तो हम वीतराग वाणी को जन-जन तक पहुँचा सकते हैं, और यह वीतराग वाणी जन-जन तक पहुँचकर सम्पूर्ण जगत को सुख-शान्ति का मार्ग दिखा सकती है। अत: अब समय आ गया है कि हम साम्प्रदायिक बाड़ों में कैद न रहें, जाति, प्रान्त और भाषा की सीमाओं में सीमित न रहें।

यदि हम अहिंसारूपी वीतरागी तत्त्वज्ञान को असीम जगत तक पहुँचाना चाहते हैं तो हमें इन छुद्र सीमाओं को भेदकर इनसे बाहर आकर महावीर वाणी के सार को जन-जन तक पहुँचाने के महान कार्य में जी-जान से जुट जाना चाहिये। यही सन्मार्ग है और इसी में हम सबका हित निहित है।

अत: इस अवसर पर कॉन्फ्रेन्स के कर्णधारों एवं आप सबसे मैं यह मार्मिक अपील करना चाहता हूँ कि समय रहते हम इस ओर ध्यान दें, सभीप्रकार के आपसी मतभेदों को भुलाकर आगामी पीढ़ी को संस्कारित करने का दृढ़ संकल्प करें, उस दिशा में सक्रिय हों; अन्यथा हमारी इस उपेक्षा का परिणाम आगामी एक नहीं अनेक पीढ़ियों को भुगतना होगा।

हमारी इस सामयिक चेतावनी एवं एकता की अपील को न केवल सभी ने शान्ति से सुना ही, अपितु उसकी गंभीरता को गहराई से अनुभव भी किया।

उक्त प्रसंग में सहज ही निकट सम्पर्क होने से भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के अध्यक्ष श्री निर्मलकुमारजी सेठी से दिगम्बर जैनसमाज की आज की समस्याओं पर भी थोड़ी-बहुत चर्चा हुई। व्यस्त कार्यक्रमों के कारण समयाभाव होने से विस्तृत चर्चा तो न हो सकी, पर जो भी चर्चा हुई, उसका संक्षिप्त सार इसप्रकार है :–

सामान्य औपचारिक बातचीत के उपरान्त मैंने उनसे कहा – दिगम्बर समाज की शक्ति व्यर्थ के ही विवादों में बर्बाद हो रही है, जब हम श्वेताम्बर भाइयों से इतना समायोजन कर सकते हैं तो थोड़े-बहुत मतभेदों के रहते आपस में भी क्यों नहीं कर सकते हैं ? जितना श्रम, शक्ति, बुद्धि एवं पैसा दिगम्बर समाज आपसी विवादों में बर्बाद कर रही है, यदि वह सब समाज के हित व धर्म के प्रचार में लग जावे तो दिगम्बर समाज का कायाकल्प हो सकता है, उसमें नई चेतना जागृत हो सकती है और वह आज की चुनौतियों को स्वीकार कर विश्व के सामने एक आदर्श उपस्थित कर सकता है।

आज की दुनिया कहाँ जा रही है और हम कहाँ उलझकर रह गये हैं। यदि हम चाहते हैं कि दिगम्बर धर्म का प्रचार-प्रसार देश-विदेशों में हो तो हमें इस मुद्दे पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

मेरी इस भावना की सेठीजी ने भी सराहना की और कहा कि आपने "आचार्य कुन्दकुन्द और दिगम्बर जैन समाज की एकता"[1] नामक लेख में भी यह अपील की है, मैंने उसे पढ़ा है।

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए मैंने एक उदाहरण दिया कि एक दम्पति (पति-पत्नी) में उग्र मतभेद चल रहे थे, तलाक की नौबत आ गई थी, दोनों अलग-अलग रह रहे थे। इसी बीच पत्नी के पिता का पत्र आया। उसमें उसने अपनी इकलौती बेटी को लिखा था कि अब मैं पूर्णत: अकेला रह गया हूँ। अत: जीवन के अन्तिम वर्ष अध्यात्म-नगरी काशी में गुजारना चाहता हूँ। उसके पहले सात दिन तुम्हारे पास रहना चाहता हूँ। तुम्हारे पास रहकर यह देखना चाहता हूँ कि तुम सुखी तो हो, पति-पत्नी प्रेम से तो रहते हो; तुम्हारी सुखी गृहस्थी देखकर मैं निश्चिंत होकर काशी वास कर सकूँगा, अन्यथा मेरे चित्त में तुम्हारी सुख-सुविधा का विकल्प खड़ा रहेगा और मेरा मरण शान्ति से नहीं हो सकेगा।

मैं सर्वप्रकार निश्चिंत होकर जीवन के अन्तिम दिन गुजारना चाहता हूँ, मेरा

१. सम्पादकीय : वीतराग-विज्ञान, जून १९९८

मरण शान्ति से समाधिमरण हो – इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि मैं तुम्हारी ओर से निश्चिंत हो जाऊँ; क्योंकि अब इस दुनिया में तुम्हारे अतिरिक्त मेरा है ही कौन ?

पिता का इसप्रकार का पत्र पाकर वह चिन्तामग्न हो गई, साहस बटोर कर पति के पास पहुँची। देखते ही पति व्यंग्यबाण छोड़ता हुआ बोला – "अच्छा अब आ गई महारानीजी, आ गई अकल ठिकाने"

मर्माहत वह बोली – "चिन्ता न करें, मैं रहने नहीं आई हूँ; यह पत्र आया है, यही दिखाने आई हूँ।"

पत्र लेते हुए पति बोला – "किसका है ? क्या लिखा है ?"

पत्र देते हुए पत्नी बोली – "पिताजी का।"

पत्र पढ़कर पति बोला इस पत्र के संदर्भ में मुझसे क्या चाहती हो ? मैं क्या कर सकता हूँ ? तुम्हारे पिताजी के लिए।

पत्नी बोली – "यदि हम चाहें तो पिताजी का मरण तो सुधर ही सकता है"

"कैसे ?"

"सात दिन तक प्रेमपूर्वक रह कर।"

"प्रस्ताव तो बुरा नहीं है, पर हममें अपस में प्रेम है कहाँ ?"

"बात प्रेम होने की नहीं है, प्रेम से रहने का नाटक करने की है।"

"पर....."

"पर क्या ? क्या हम पिताजी के लिए इतना भी बलिदान नहीं कर सकते?"

"क्यों नहीं ?"

इसप्रकार सुनिश्चित करके सुनिश्चित दिन पर दोनों ही एकसाथ मिलकर पिताजी को लेने स्टेशन पहुँचे, प्रेम से उन्हें लाए, सात दिन तक इसप्रकार रहे कि मानो उनमें प्रगाढ़ स्नेह हो, वे आदर्श दम्पति हों।

सात दिन बाद जब वे उन्हें स्टेशन पर विदा करने गये, तब उन्हें विदा

करके अपने-अपने घर जाने लगे तो पति ने पत्नी से कहा –

"सुनो, जरा विचार तो करो कि जब हम दूसरों के सुख के लिए एकसाथ प्रेमपूर्वक रहने का इतना अच्छा नाटक लगातार सात दिन तक कर सकते हैं तो अपने सुख के लिए यह नाटक जीवन भर भी क्यों नहीं कर सकते हैं?"

पत्नी बोली – "क्यों नहीं ? अवश्य कर सकते हैं ?"

इसप्रकार वे दोनों पति-पत्नी प्रेमपूर्वक रहने लगे। कुछ दिन तो प्रेम का नाटक रहा, पर कुछ दिन बाद उनमें सहज प्रेमभाव भी जागृत हो गया।

इसीप्रकार जब हम सम्पूर्ण जैनसमाज की एकता के लिए श्वेताम्बर भाइयों के साथ प्रेमपूर्वक उठ-बैठ सकते हैं, मिलजुलकर काम कर सकते हैं, सबप्रकार से समायोजन कर सकते हैं, तब फिर दिगम्बर समाज की एकता के लिए क्यों नहीं प्रेमपूर्वक उठ-बैठ सकते हैं, क्यों नहीं मिलजुल कर काम कर सकते हैं ? सभीप्रकार का समायोजन भी क्यों नहीं कर सकते हैं? जितना अन्तर दिगम्बर-श्वेताम्बर मान्यताओं में है, उतना अन्तर तो हम और आप में नहीं है न ?

एकबार ऊपरी मन से एकसाथ उठने-बैठने लगें तो फिर सहज वात्सल्य भी जागृत हो जायेगा। अनावश्यक दूरी व्यर्थ ही आशंकाएँ उत्पन्न करती है। दूरी समाप्त करने का एकमात्र उपाय सहज भाव से नजदीक आना ही है।

इस पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में आप जिसप्रकार का समायोजन कर रहे हैं और दिगम्बर प्रतिमाओं की जिसप्रकार प्रतिष्ठा हो रही है; उस पर मैं कोई टिप्पणी नहीं करना चाहता, मुझे कोई विरोध भी नहीं है; पर यह अवश्य पूछना चाहता हूँ कि भारत में हम जो प्रतिष्ठाएँ कराते हैं; वे क्या आपकी दृष्टि में ऐसी भी नहीं हैं, जो आप उनका इतना विरोध करते हैं ? आपसे यही अनुरोध है कि दिगम्बर धर्म के प्रचार-प्रसार एवं दिगम्बर समाज की सुख-शान्ति व एकता के लिए इन सब बातों पर एकबार गम्भीरता से विचार करें।

हमारी यह सम्पूर्ण वार्ता अत्यन्त स्नेहपूर्ण वातावरण में हुई। सेठीजी ने भी यही कहा कि हम भी यही चाहते हैं, पर हमारी कुछ आशंकाएँ हैं, जिनका

निवारण हम आपसे करना चाहते हैं।

मैंने कहा – "अवश्य पूछिए, क्या पूछना चाहते हैं ?"

उन्होंने कहा – "एक तो आप यह बताइये कि आप कोई नया पंथ तो नहीं चलाना चाहते ?"

मैंने कहा – "एकदम नहीं, हम कोई नया पंथ नहीं चलाना चाहते। आप ही हमें 'कानजी पंथी' कहते हैं, हमने स्वयं तो कभी अपने को 'कानजी पंथी' कहा ही नहीं।"

वे बोले – "क्या यह सत्य है ?"

मैंने कहा – "इसमें क्या शक ?"

वे फिर बोले – "आप अभी तो कह रहे हैं, पर फिर बदल न जाइयेगा।"

मैंने कहा – "क्या बात करते हैं ? हम उनमें से नहीं हैं, जो कहकर बदल जाते हैं; अभी तक आपका और हमारा व्यवहार नहीं हुआ है, अत: आप इसप्रकार की बातें कर रहे हैं।"

वे बोले – "हमें विश्वास नहीं होता। इसलिए मैं यह बात कर रहा हूँ। आप कहें तो मैं यह बात छपवा दूँ।"

मैंने कहा – "अवश्य छपवा दीजिए। आप क्या मैं स्वयं ही इस बात को लिखूँगा। फिर तो आपको कोई शंका नहीं रहेगी।"

उन्होंने मेरी इस बात पर बहुत प्रसन्नता व्यक्त की। फिर कहने लगे –

"अपन श्रवणबेलगोला में सहस्राब्दी समारोह पर मिले थे, बहुत चर्चा भी की थी, पर उसके बाद मिलना नहीं हुआ। अभी मवाना शिविर के पहले दिल्ली में भी आपने चर्चा नहीं की।"

मैंने कहा – "रूपचंदजी कटारिया ने बात की थी, पर उस समय वातावरण कितना विषाक्त था। क्या ऐसे विषाक्त वातावरण में भी कोई चर्चा सफल हो सकती है ? चर्चा के लिए सौम्य वातावरण चाहिए, सहज वातावरण चाहिए।

चर्चा मात्र चर्चा के लिए ही तो नहीं करनी है। कुछ रास्ता निकले, तभी

चर्चा सफल होती है। इसके लिए पूर्व तैयारी अत्यन्त आवश्यक है।

आप या हम तभी तो कोई बात स्वीकार कर सकते हैं, जब उस बात को अपने-अपने पक्ष की जनता को भी स्वीकृत करा सकें। यदि अपने पक्ष की जनता को स्वीकार न करा सके तो हमारे और आपके स्वीकार करने मात्र से क्या होगा ?

सामाजिक एकता के लिए विशाल दृष्टिकोण से कार्य करना होगा और ऐसा समाधान खोजना होगा, जो संबंधित सभी व्यक्तियों को स्वीकार हो सके, अन्यथा एकता सम्भव नहीं हो सकती।

समझौता का रास्ता अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी होते हुए भी सहज व सरल नहीं होता; इसमें हमारी बुद्धि, क्षमता, सामाजिक पकड़, धैर्य – सभी कसौटी पर चढ़ जाते हैं। फिर भी यदि दोनों पक्ष एक-दूसरे की कठिनाइयाँ समझें और सच्चे दिल से रास्ता खोजें तो मार्ग मिलता ही है।

एकबार एकसाथ मिलना-बैठना आरम्भ हो जाय तो बहुत-सी समस्याएँ तो अपने-आप समाप्त हो जाती हैं।

एक बात यह भी तो है कि हम और आप ही तो सबकुछ नहीं हैं, आपके साथी-सहयोगी भी हैं और हमारे भी साथी-सहयोगी हैं। जबतक उनसे विचार-विमर्श कर पहल न की जावे, तबतक कुछ भी सम्भव नहीं।

इस सब के लिए वातावरण में भी कुछ नरमी तो आनी ही चाहिए। बिना नरमी के जब एक साथ उठना-बैठना ही सम्भव नहीं है तो एकता का रास्ता कैसे निकल सकता है? आप जरा अपने पक्ष में नरमी का वातावरण बनाइये, जिससे संवाद की स्थिति बन सके।

हम स्वयं इस दिशा में वर्षों से सक्रिय हैं, इस दिशा में हमने अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए हैं, अनेक कठिनाइयों के रहते हुए भी उनका सफल क्रियान्वयन भी किया है। हमारे उक्त प्रयत्नों से सभी समाज भली-भाँति परिचित है; उनका उल्लेख करना न तो आवश्यक ही है और न उचित ही है।

यद्यपि हमारे उक्त प्रयत्नों के सुपरिणाम आ रहे हैं, तथापि जन-मानस

बदलना इतना आसान तो नहीं; सच्ची लगन और निष्ठापूर्वक वर्षों तक इस दिशा में सक्रिय रहने की आवश्यकता है। मुझे विश्वास है कि एक न एक दिन हमारा श्रेय सफल होगा ही।

सफल वार्ता की निर्मल भूमिका के लिए आपको भी कुछ ऐसे कदम उठाने चाहिए, जिससे आवश्यक चर्चा के लिए सदाशयता का वातावरण बन सके।"

मेरी यह भावना जानकर सेठीजी ने जिस प्रसन्नता से उसका स्वागत किया था, उससे मुझे आशा बंधी थी कि अब वातावरण में कुछ न कुछ नरमी अवश्य आयेगी।

कुछ समय तक मुझे ऐसा लगा भी कि वातावरण सुधर रहा है, पर बाद में फिर गाड़ी उसी लाइन पर चल निकली। उसके बाद अभी तक तो कोई प्रसंग बना नहीं है, अब देखें कब बनता है ?

एकता, शान्ति, सहयोग का वातावरण जिसप्रकार आज सारी दुनिया में बन रहा है बड़े से बड़े विरोधी जिसप्रकार एक टेबल पर बैठकर समस्याएँ सुलझा रहे हैं; उससे लगता है कि काल ही कुछ ऐसा पक रहा है कि जिसमें सभी समीकरण बदल रहे हैं; शत्रु नजदीक आ रहे हैं, मित्र दूर जा रहे हैं।

दिगम्बर समाज के क्षितिज पर भी इसका असर दिखाई दे रहा है। कह नहीं सकते भविष्य में कब क्या समीकरण बने? अत: इस समय बड़ी ही सतर्कता से समाज व धर्म के हित में काम करने की आवश्यकता है। समय की अनुकूलता का समाज के हित में उपयोग कर लेना ही बुद्धिमानी है; क्योंकि गया समय फिर लौटकर वापिस नहीं आता।

मैं सदा आशावादी रहा हूँ। अत: मुझे पूर्ण विश्वास है कि एक दिन ऐसा अवश्य आयगा कि सन्देह के बादल विघटित होंगे और समाज में एकता के साथ-साथ नई स्फूर्ति भी आयेगी।

●

८

अयोध्या समस्या पर वार्ता

(६ दिसम्बर, १९९२ को अयोध्या में तथाकथित बाबरी मस्जिद ढहाये जाने पर)

६ दिसम्बर, १९९२ को आयोध्या में तथाकथित बाबरी मस्जिद ढहाए जाने के बाद मन्दिर-मस्जिद विवाद के कारण सम्पूर्ण देश में उत्तेजना फैली हुई थी; देश में दंगे-फसाद हो रहे थे। तब जयपुर दूरदर्शन के स्टूडियो में डॉ. भारिल्ल, न्यायाधीश कुदाल साहब आदि गणमान्य व्यक्तियों का वार्ता कार्यक्रम रखा गया। डॉ. भारिल्ल की वार्ता के प्रमुख अंश निम्नप्रकार से हैं –

प्रश्न – अयोध्या में राम मन्दिर एवं बाबरी मस्जिद विवाद के कारण सम्पूर्ण भारत का वातावरण अशान्त बना हुआ है। आज डॉ. भारिल्ल हमारे बीच उपस्थित हैं, आप आध्यात्मिक चिन्तक हैं। आध्यात्मिक आस्था से यह मसला जुड़ा हुआ है। आपकी इस बारे में क्या राय है ?

डॉ. साहब – मर्यादापुरुषोत्तम महापुरुष भगवान राम भारत के रोम-रोम में समाए हुए हैं। इसलिए भारत के सबसे अधिक आस्था पुरुष यदि कोई हैं तो वे हैं राम। सारी दुनिया जानती है कि राम का जन्म अयोध्या में हुआ था। उनका साम्राज्य अयोध्या में था। इसलिए, उनका मन्दिर अयोध्या में नहीं बनेगा तो और कहाँ बनेगा ? मन्दिर तो वहाँ बनना ही चाहिए और इतना अच्छा बनना चाहिए कि दुनिया देखती ही रह जाए।

दरअसल, सवाल यह है कि राम की जो अयोध्या थी, वह कोई १००-५० मीटर की नहीं थी। जैनशास्त्रों के अनुसार तो अयोध्या १२ योजन लम्बी और ९ योजन चौड़ी थी। एक योजन चार कोस का अर्थात् आठ मील का होता है। इस तरह अयोध्या ९६ मील लम्बी तथा ७२ मील चौड़ी थी। इतनी

बड़ी अयोध्या में राम का जन्म कहाँ हुआ था – यह निश्चित करना सहज संभव नहीं है।

राम का मन्दिर तो अयोध्या में ही बने, सुन्दर बने तथा बहुत विशाल बने; लेकिन आज हमारी स्थिति यह है कि हम उस स्थान से एक इंच भी यहाँ से वहाँ होना नहीं चाहते, जिससे हमारे देश में बहुत बड़ी तकलीफ खड़ी हो गई है। यह हम सबके लिए अच्छी बात नहीं है। हमारे धर्मगुरुओं तथा हम जैसे लोगों को चाहिए कि अपनी जनता को समझाएँ कि राम के राज्य में राम के सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी रावण के भाई के लिए भी स्थान प्राप्त था। वर्तमान में यदि राम का राज्य यहाँ होता तो क्या राम अन्य प्रकार की आस्थावाले लोगों के लिए अयोध्या में अपनी आस्था के स्थान नहीं बनाने देते ?

प्रश्न – विवाद इस बात पर अधिक लगता है कि मन्दिर बने तो कहाँ बने ? कुछ लोग ऐसी सोचवाले भी हो सकते हैं कि मन्दिर बने, चाहे न बने लेकिन....? इस सोच में जो विवाद की स्थिति है – आध्यात्मिक चिन्तक होने के नाते क्या आप यह सोचते हैं कि मन्दिर उसी स्थान पर बने जहाँ पर आग्रह है, अथवा कहीं और बने जिससे विवाद न हो ?

डॉ. साहब – मन्दिर नहीं बनने का तो कोई सवाल ही नहीं है, मन्दिर तो बनना ही चाहिए तथा अच्छे से अच्छा बनना चाहिए, लेकिन यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि इसके साथ सारे देश की आस्था और खुशियाँ जुड़ी हुई हैं। सारे देश में खून की एक बूँद भी न बहे और मन्दिर बने तो सारे विश्व में अपने देश की प्रतिष्ठा तो बढ़ेगी ही और वही राम का असली मन्दिर भी होगा। यदि मन्दिर खून-खराबा, दंगे-फसाद होकर बनता है तो वह राम का असली मन्दिर नहीं होगा, चाहे वह कितना भी बढ़िया और सुन्दर क्यों न बने।

मैं चाहता हूँ कि कोई इस विषय को हार या जीत का मुद्दा न बनाए। वहाँ चाहे कुछ भी बने, लेकिन हम उसे कोई पक्ष हारा और दूसरा जीता – इस रूप में न देखें। प्रत्येक भारतीय नागरिक को अपनी जीत महसूस हो – ऐसा कोई समाधान हमें मिल-बैठकर निकालना चाहिए। हमारे संत, धर्मगुरु, बहुत

बुद्धिमान, समझदार एवं शान्तिप्रिय होते हैं। यदि वे चाहें तो मिल-बैठकर इस मुद्दे का हल निकाल सकते हैं।

प्रश्न – हम लोकतंत्र में रहते हैं। लोकतंत्र में जो अल्पसंख्यक हैं, उनका आदर होता है। उन्हें आदर देने की जिम्मेदारी बहुसंख्यकों की है। तो क्या आप सोचते हैं कि आज का बहुसंख्यक इस आदर को देने को तैयार है ?

डॉ. साहब – उसे तैयार होना चाहिए। मेरी भावना तो यह है कि ८७ करोड़ जो भारतवासी हैं, उनकी भावनाओं का मन्दिर बने, सबकी भावना उस मन्दिर में समाहित हो। उस मन्दिर के लिए जो कारसेवा हो – उसमें हिन्दू, मुस्लिम, जैन – सभी धर्म के लोग हों। जैनियों के तो अधिकांश तीर्थंकरों का जन्म अयोध्या में हुआ है और उनके मन्दिर भी वहाँ हैं। अब जो मन्दिर बने, वह सभी धर्मावलंबियों का बने तथा प्रत्येक भारतीय आत्मा की प्रसन्नता का काम हो।

राम ने दुष्प्रवृत्तियों का निषेध किया था और दुष्ट रावण को जीता था, परन्तु लंकावासियों को अपने राज्य से बाहर नहीं किया, अपितु अपने साम्राज्य में उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान भी दिया था। वैसा ही कार्य आज हम सब मिलकर अयोध्या में करें – मेरी यह भावना है।

आस्था का सम्बन्ध भक्ति और प्रेम से जुड़ा है, इसलिए राम के विशाल हृदय के अनुसार हम सबको साथ लेकर चलें। राम के नाम पर देश में दंगे-फसाद हों, देश अनेक भागों में बँटे – यह न तो राम के लिए और न राम के भक्तों के लिए सौभाग्य की बात होगी कि देश में एकता रहे और उस एकता को हम भारतीय संस्कृति के नाम से दुनिया के सामने रख सकें।

प्रश्न – राम जन-जन के रोम-रोम में समाए हुए हैं। तो क्या वे राम किसी पत्थर की इमारत के मोहताज हैं ?

डॉ. साहब – आपका कहना तो सही है। जब हमारा एक मजदूर कुल्हाड़ी चलाता है, तो उसके मुँह से 'हे राम' शब्द निकलता है। राम कण-कण में व्याप्त हैं, हरेक मन में व्याप्त हैं। फिर भी यदि यह प्रश्न खड़ा हो ही गया है तो हम उसे यह कहकर नहीं टाल सकते कि राम सबके हृदय में बसे

हैं, इसीलिए उनके मन्दिर की कोई जरूरत नहीं है। आखिर राम हृदयों में बसे हैं न, इसलिए तो मन्दिर बनते हैं, हृदयों में नहीं होते तो, मन्दिर कौन बनाता।

प्रश्न – भारिल्ल साहब ! राम की मर्यादा को कायम रखते हुए मन्दिर बने – यह तो सही है, लेकिन जो अल्पसंख्यक लोग हैं, उनके मन में कोई भय न रहे, वे अपने को सुरक्षित समझें – इसके लिए रास्ता कैसे निकलेगा ?

डॉ. साहब – रास्ता न तो न्यायालय निकाल सकता है और न राजनैतिक लोग निकाल सकते हैं। न्यायालय तो कानून की सीमाओं में बंधा है, वह इस दृष्टि से देखेगा – जमीन किसकी थी ? किसके नाम है ? क्या बनना चाहिए ? क्या करना चाहिए ? वह जो निर्णय देगा, उससे सम्पूर्ण भारतीय जनमानस को संतोष हो जाएगा – इसकी कोई गारन्टी नहीं है। हो सकता है कि एक पक्ष प्रसन्न एवं दूसरा पक्ष एकदम आंदोलित हो जाए।

राजनैतिक लोग भी जो निर्णय देंगे वह उनके वोट बैंक के अनुसार होगा। एक मात्र सभी धर्मों के धर्मगुरु ही कोई रास्ता निकाल सकते हैं; क्योंकि उन्होंने अपना घर-बार छोड़कर धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए ही जीवन समर्पित किया है। वे लोग अपने विशाल हृदय से सोचें और मिल-बैठकर ऐसा निर्णय निकालें जो सबको मान्य हो, जिससे सभी को प्रसन्नता हो। निर्णय से एक पक्ष प्रसन्न एवं दूसरा पक्ष नाराज हो – यह अच्छी बात नहीं है।

मुझे विश्वास है कि सभी पक्षों के धर्मगुरु मिलकर जो भी निर्णय देंगे; उसे सम्पूर्ण भारत सहज भाव से स्वीकार कर लेगा; क्योंकि जनता तो समझौता चाहती है, शान्ति चाहती है, एकता चाहती है।

यदि हमारे धर्मगुरु ऐसा रास्ता नहीं निकाल पाते तो हमें कोई दूसरा रास्ता शेष न रहने से न्यायालय की शरण में ही जाना पड़ेगा। वहाँ पर सौ-सौ वर्ष तक मुकदमे चलते हैं और कोई निर्णय नहीं निकलता। निर्णय निकले तो भी जनमानस को मान्य नहीं होता। निर्णय निकलने तक तो कितने दंगे-फसाद हो जाते हैं। इसलिए सही निर्णय आस्थावान सन्त-धर्मगुरु ही निकाल सकते हैं।

वे सभी प्रतिज्ञा करके बैठें कि हम सभी को मान्य रास्ता निकालेंगे,

जिससे किसी को दुःख नहीं पहुँचेगा। राजनैतिक लोग धर्मगुरुओं का मार्गदर्शन न करें; लेकिन धर्मगुरु विशाल हृदय को लेकर इस मामले को सुलझायें और वे निर्णय लेकर राजनीतिज्ञों से कहें कि हमने यह निर्णय लिया है, आप इसे लागू कीजिए। यह रास्ता ही सही है।

प्रश्न – भारिल्ल साहब ! क्या आप इस बारे में कुछ कहना चाहेंगे कि दोनों पक्ष बैठकर बात करें और उन बातों को गौण करें, जो हम आपस में नहीं सुलझा सकते हैं। जो हम नहीं सुलझा सकते, उनको हम पंचों के फैसले के लिए दें और इसके पीछे कोई शर्त, कोई समयसीमा निश्चित नहीं करें। आपकी क्या राय है ?

डॉ. साहब – बात अकेले मन्दिर अथवा मस्जिद की नहीं है। सवाल बुड्ढी के मरने का नहीं है, मौत घर देख गई है – समस्या यह है। उस स्थान पर मन्दिर बने या मस्जिद – इतना ही मुद्दा नहीं है। हमारे मुस्लिम भाईयों को ऐसा लगता है कि आज यहाँ हुआ, कल मथुरा में होगा, परसों बनारस में होगा। तो क्या सारी मस्जिदें मन्दिर में बदल जायेगी ? समस्या यह है और इस समस्या के समाधान हेतु दोनों पक्षों को निर्मल हृदय से बात करनी होगी। यदि बात अयोध्या तक ही सीमित होती तो अबतक निपट गई होती।

मैंने कल ही अखबार में पढ़ा कि एक भाई कहता है सवाल यह नहीं है कि वहाँ मन्दिर बनेगा या नहीं ? सवाल यह है कि इस देश में हिन्दू संस्कृति चलेगी अथवा नहीं ? यह जो भावना है, वह समस्या को हल नहीं होने देती। इससे जब वार्ता करने बैठेंगे तो पीछे से दबाब बनेगा कि यदि फैसला हमारे पक्ष में नहीं हुआ तो हम यह कर देंगे, हम वह कर देंगे। दोनों ओर से धमकियाँ देकर अपने अनुकूल निर्णय कराने का प्रयत्न होगा और इसीलिए समय सीमा बाँधी जायेगी। वास्तव में साफ हृदय से काम हो तो काम ३ माह का भी नहीं है। यदि खुले हृदय से नहीं किया तो वर्षों तक निपटनेवाला नहीं है।

प्रश्न – भारतीय संस्कृति तो हमेशा प्रेम और सहयोग की रही है। उस परम्परा में टकराव की स्थितियाँ कैसे आ गईं और समस्या कैसी उत्पन्न

हो गई ?

डॉ. साहब – यह बात ऐसी है कि समझौते कुछ लेकर और कुछ देकर होतें हैं; लेकिन समझौते में जो अधिक त्याग करेगा, वह महान बनेगा; जो ज्यादा लेने का प्रयत्न करेगा, वह महान सिद्ध नहीं होगा। जहाँ तक भारतीय जनता का सवाल है, वह यह नहीं जानना चाहती कि तुमने क्या दिया और क्या लिया ? वह तो समझौता होने पर शांति की सांस लेगी। उसे समझौते में ही प्रसन्नता होगी।

भारतीय जनता को समझाया जाय कि मन्दिर बहुत सुन्दर और विशाल बनेगा पर थोड़ा-सा ५० कदम हटकर बनेगा। इससे भारतीय मानस एकदम आन्दोलित होनेवाला नहीं है। मेरे कहने का मतलब यह है कि बात समझाई जा सकती है। ऐसे ही मुस्लिम भाईयों को भी समझाया जा सकता है कि मस्जिद बनेगी, पर ५० मीटर दूर बनेगी। यहाँ सुन्दरतम प्रांगण बनेगा, बाग बनेगा या और कोई ऐसा कार्य होगा, जो सभी का हो और किसी का न हो। इसमें सवाल उदारता का है; जो उदारता दिखायेगा, वह महान सिद्ध होगा। हमारा देश दान के लिए प्रसिद्ध है, वह हमेशा अपना सर्वस्व देने को तैयार रहता है। जिसे महान बनना है, उसे लेने से ज्यादह बल देने पर देना पड़ेगा।

यही एकमात्र रास्ता है। ●

तुम उतावली न करो, मैं सत्य का उद्घाटन भी करूँगा और संगठन भी कायम रखूँगा। मेरे द्वारा न सत्य की कीमत पर संगठन होगा और न संगठन की कीमत पर सत्य ही छोड़ा जाएगा। धर्म के लिए सत्य जरूरी है और समाज के लिए संगठन। अतः धार्मिक समाज का काम है कि वह सत्य का आश्रय ले और संगठन को भी बनाए रखे। विघटन समाज को समाप्त कर देता है और असत्य धर्म को। दोनों की ही सुरक्षा आवश्यक है।

– सत्य की खोज, पृष्ठ-118